ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–पञ्चम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

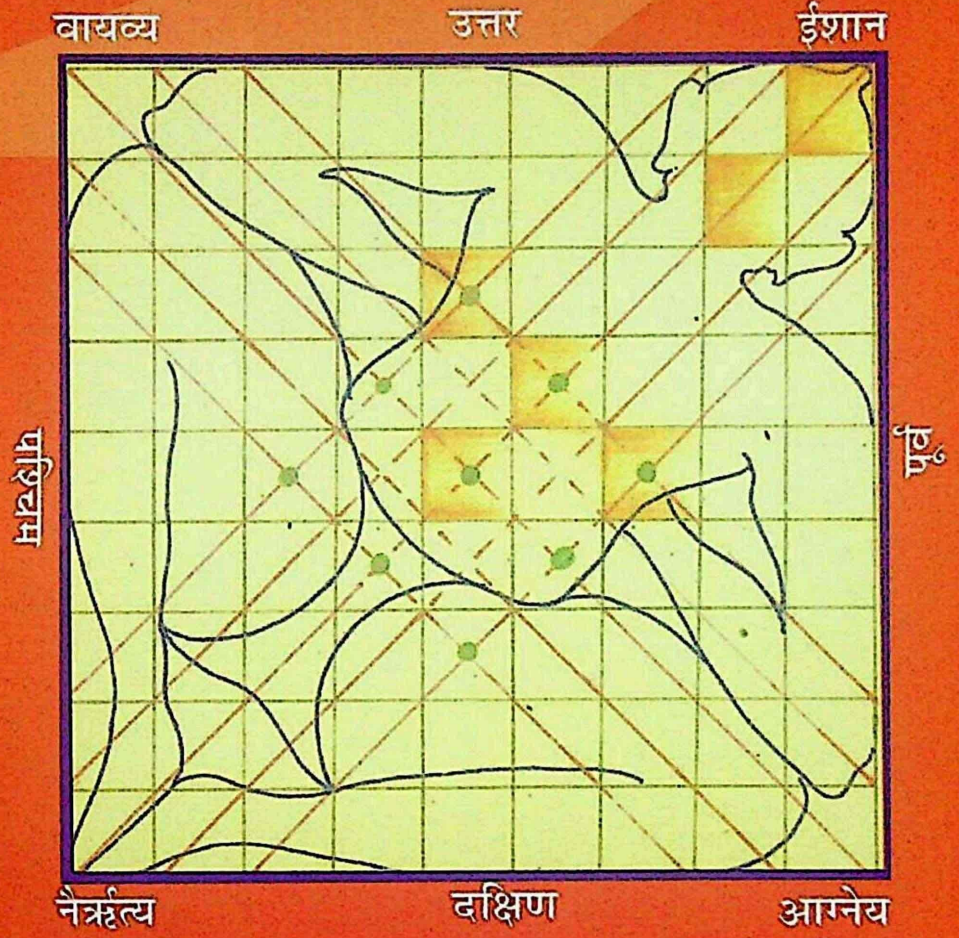

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली–110016

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–पञ्चम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति

सम्पादक
प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष– ज्योतिष विभाग
संयोजक– वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

M.Katyayana

ज्योतिष विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली–११००१६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रकाशक-
ज्योतिष विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-११००१६

ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण - अप्रैल २०११

मूल्य २००/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रकः
अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली-११०००९
९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुरोवाक्

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेद् तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥[१]

जिससे सृष्टिकर्त्ता ने द्यावापृथिवी को बनाया, वह कौन सा वन है? और कौन सा महान् वृक्ष है? हे विद्वान पुरुषो! तुम अपने मन से यह प्रश्न पूछो और वह ईश्वर समस्त लोकों को धारण करता हुआ, जिस स्थान पर विराजमान है उसका भी अन्तःकरण पूर्वक विचार करो।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥[२]

जो हमारा पालक, उत्पन करने वाला, विश्वरूप से जगत् को धारण और पोषण करने वाला है; विश्व के सारे धामों, लोकों और उत्पन्न होने वाले पदार्थों को जानता है। जो समस्त देवों के नाम रखकर, उनको उनके स्थान पर रखने वाला अकेला अद्वितीय है। उसे अन्य सब उत्पन्न प्राणी, कौन परमेश्वर है? यह पूछते-पूछते प्राप्त करते हैं।

वास्तुशास्त्र की निर्माण प्रक्रिया विश्व निर्माण से ही प्रारम्भ होती है इसलिए वैदिक ऋषि इस गम्भीर चिन्तन में संलग्न हैं कि इस विश्व को किसने बनाया? और कैसे बनाया? तथा किस पदार्थ का उपयोग किया गया? आदि आदि। उक्त वर्णन से विदित होता है कि– वास्तु में दैवी अवधारणा ऋग्वैदिक काल से ही उपलब्ध होती है। ऋग्वेद में वास्तु[३] वास्तोः[४] वास्तूनि[५] तथा वास्तोष्पति[४] जैसे शब्दों का विवरण दैवी अवधारण के साथ ही मिलता है। दैवी अवधारणा ही वास्तव में वास्तुशास्त्र का मूल है। अमरकोशकार

---

१. ऋग्वेद ८.२५.५
२. वही, १०.८२.०३
३. वही, ५.४१.८, ७.५४.१-३, ७.५५.१, ८.१७.१४
४. वही, १.१५४.६
५. वही, ५.५४.१-३

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ने तो वास्तोष्पति को इन्द्र का पर्याय तक कह दिया। यथा-

वास्तोष्पतिः सुरपतिर्बलाराति शचीपतिः।
जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण्नमुचिसूदनः॥[१]

वैदिकयुग की आध्यात्मिकता के चिन्तन से यह उद्घाटित होता है कि सर्वत्र सृजनात्मक जीवन की श्रेष्ठता को ही वैदिक ऋषि स्थापित कर रहे थे। इसीलिए विभिन्न नाम के रूप में दैवी अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। वैदिक सन्दर्भों में शिल्प के विविध उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा वास्तुशास्त्रीय चिन्तन एवं उसके स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है। वैदिककालीन सुन्दर एवं सुनियोजित जीवन के आधार हेतु वास्तुगत संरचनायें और वास्तु के एक पृथक् देवता "वास्तोष्पति" की कल्पना की गयी। यद्यपि इस देवता की स्तुति में अधिक मंत्र उपलब्ध नहीं होते हैं परन्तु जो मन्त्र उपलब्ध होते हैं उनसे वास्तु सम्बन्धी अवधारणा का स्वरूप विकसित होता दिखाई देता है। इस देवता का सम्बन्ध भवनों या वास्तुगत संरचनाओं से ही नहीं अपितु वासकर्त्ता के सर्वविध अभ्युदय से भी परिलक्षित होता दिखाई देता है। इस देवता से सम्बन्धित ऋग्वेद के तीन मंत्रो में वास्तोष्पति की स्तुति मिलती है, यह स्तुति वैदिक देवशास्त्र को एक नूतन आयाम प्रदान करती है।[२]

ऋग्वेद में वास्तोष्पति से गृह के स्तम्भों को सुदृढ़ बनाये रखने का अनुरोध किया गया है।[३] एक अन्य प्रसंग में इन्हें वास्तुकृतियों में प्रविष्ट रोगों का नाशक भी बताया गया है।[४] वास्तोष्पति को देवताओं द्वारा गढ़कर तैयार करने की बात भी कही गयी है।[५] जबकि वास्तोष्पति सूक्त में इनको रोग नाशक धन-धान्य वृद्धि कारक एवं योग क्षेम में सहायक बताया गया है। वस्तुतः योग क्षेम की कामना ही जीवन में स्थायी निवास का संकेत प्रदान करती है। वैदिक वास्तु का प्रारम्भ ही क्षेम से होता है। क्षेम का ही अपभ्रंश रूप खेमा (स्थायी आवास) है।

वैदिक वाङ्मय में वास्तु के दैवी चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तु संरचनायें देव भावना के साथ पूजित एवं निर्मित की जाने लगी।

---

१. वही, १.१.४६
२. ऋग्वेद ७.५४.१-३
३. वही, ८.१७.१४
४. वही, ७.५५.१
५. वही, १०.१६.७

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वैदिक अवधारणा में वास्तु के चिन्तन में स्थायी जीवन को आधार प्रदान करने वाला एक पक्ष "स्तम्भ" का रहा है। अथर्ववेदीय स्तम्भ सूक्त में दैवी भावना से ओत प्रोत ४४ मंत्रों में स्तम्भ के महत्व को प्रदर्शित किया गया है।[१] ऋग्वेद काल से ही यह अवधारण विकसित हो गयी कि जिस प्रकार गृह का छादन स्तम्भ पर टिका है ठीक उसी प्रकार यह द्युलोक ब्रह्म के सहारे टिका हुआ है।[२] अथर्ववेद के स्तम्भ सूक्त में कहा गया है कि सभी तत्त्व, सभी पदार्थ, सभी देव और सम्पूर्ण लोक किसी न किसी टेक पर ही टिके हैं। इसी स्तम्भ ब्रह्म को विभिन्न यज्ञों, संस्कारों एवं उत्सवों में यज्ञ स्तम्भ आदि के दैवी रूप में पूजा जाता है। वैदिक वास्तु का मूल आधार स्तम्भ ही था और आज भी यह किसी भी संरचना का आधार-स्तम्भ है। यह सर्वविदित है कि गृह के विभिन्न भाग स्तम्भों पर ही टिके रहते थे और आज भी टिके रहते हैं।

वैदिक वाङ्मय में वास्तु-शिल्प के चिन्तन एवं स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली एक अवधारण "चिति" की है। भारतीय स्थापत्य में विद्वानों का मानना है कि वैदिक चिति (वेदी) से ही वास्तु-पूजन का प्रारम्भ हुआ। शुल्बसूत्रों में वेदी रचना के जो मान, उन्मान, निवेश आदि प्रक्रियायें दी गयी हैं उन सबसे वैदिक कृषि भलिभाँति परिचित थे। परवर्ती विधानों से स्पष्ट हो गया कि यज्ञ-वेदी का अधिष्ठान ही मन्दिर (प्रासाद) वास्तु के रूप में परिणत हुआ। अतः स्पष्ट है कि मन्दिर वास्तु का आधार वैदिककालीन यज्ञ वेदी ही है।[३] उत्तर वैदिक काल में वास्तु का सर्वाधिक विकास हुआ। उत्तरोत्तर वास्तु-शिल्प एवं चित्र सभी वास्तु के अंगभूत हो गये। वास्तु शब्द शिल्प की उपेक्षा अधिक प्राचीन है। वास्तु शब्द ऋग्वेद में भवन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए भवन से सम्बन्धित शास्त्र को वास्तु शास्त्र कहते हैं। चार वेदों के समान ही चार उपवेद भी हैं। उनमें स्थापत्य शास्त्र, वास्तु शास्त्र एवं शिल्प शास्त्र तीनों शब्द पर्यायवाची प्रयुक्त हुए हैं। डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने वास्तुशास्त्र के तीन अंग मुख्य रूप में स्वीकार किये, वे तीन अंग है– वास्तु, शिल्प एवं चित्र। ये तीनों एक दूसरे के उपकारक हैं। भारतवर्ष की कला उपलक्षणात्मक रूप में पल्लवित एवं फलित हुई। उपलक्षण (प्रतीक, सिम्बल्स) की अवधारणा के रूप में ही चित्रण एवं मूर्तिकला का विकास हुआ। जैसाकि शिल्परत्न में कहा गया है–

एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा यतः।
मनोहरतरं कुर्यान् नानाचित्रैर्विचित्रितम्॥

---

१. अथर्ववेद, १०.७

२. ऋग्वेद ४.५.१

३. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल भारतीय स्थापत्य पृष्ठ २३९

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भारतीय वास्तुशास्त्र की एक सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक परम्परा है। आज समाज में इस शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा होती है परन्तु सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में समाज कुछ दिग्भ्रमित सा भी लगता है। यदि आज इस शास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान एवं परम्परा से लोगों को अवगत किया जाय तो इस शास्त्र के जिज्ञासुओं एवं अनुरागियों को सर्वाधिक लाभ होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति तथा इस शास्त्र के जनोपयोगी एवं व्यवहारिक होने के कारण विद्यापीठ इस शास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन में संलग्न है। सम्प्रति इस शास्त्र का अध्ययन ज्योतिष विभाग में स्नातकोत्तर वास्तुशास्त्रोपाधि (पी.जी.डिप्लोमा वास्तुशास्त्र) के रूप में चल रहा है। इसी के प्रतिफल के रूप में इस वास्तुशास्त्र विमर्श "पञ्चम पुष्प" को ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष एव वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम के संयोजक प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी ने विभिन्न शोधपूर्ण लेखों से सुसज्जित किया है। यह इनके निरन्तर कार्य प्रवृत्ति का ही परिणाम है अतः मैं इन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

यह विषय जितना लोकप्रिय है उतना ही शास्त्रीय भी है। इस शास्त्र के गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को जन-जन तक पहुचाने और प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के निराकरण में ज्योतिष विभाग द्वारा किया जाने वाला यह कार्य एक स्वच्छ एवं सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन कर रहा है। मैं विभागीय सभी विद्वज्जनों को धन्यवाद देते हुए, इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'पञ्चम पुष्प' को वास्तुशास्त्र प्रेमियों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वि.सं. २०६८ — **प्रो. वाचस्पति उपाध्याय**

दिनाङ्क ०४:०४:२०११ — कुलपति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सम्पादकीय

प्राचीन भारत में वास्तुशास्त्र का दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक एव स्पष्ट है। वास्तुशास्त्र को अथर्ववेद के उपवेद एवं वेदाङ्गों में ज्योतिय के संहिता स्कन्थ के अन्तर्गत समाहित किया गया है। किसी भी वस्तु एवं पिण्ड के इष्टानिष्ट का पूर्वानुमान करना ही ज्योतिय का मुख्य उद्देश्य है। ज्योतिष के ही मुख्य उद्देश्य की सम्पूर्ति वास्तुशास्त्र करता है। वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है कि यह मानव जो पार्थिव-अपार्थिव दोनों का समिश्रण है किस पार्थिव-अपार्थिव रूपी समुचित परिवेश में रहने अथवा निवास करने से सुखपूर्वक अपने पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि कर सकता है। वास्तविक रूप में देखा जाय तो यह सम्पूर्ण विश्व वास्तु एवं ज्योतिष के ही चिन्तन का प्रतिफल है; क्योंकि परमाणु-अणु आदि के मेल से ही किसी वस्तु एवं पिण्ड का निर्माण होता है। वस्तु एवं पिण्ड का निर्माण और उसमें होने वाली निर्माण प्रक्रिया दोनों ही वास्तु के विषय हैं। परमाणुओं से अणु का और अणुओं से दृश्यमान जगत का निर्माण किस क्षण (काल) में हुआ? यह एक विचारणीय विषय है। अतः कह सकते हैं कि अणु अर्थात् कण की देन वास्तु शास्त्र तथा क्षण (काल) की देन ज्योतिष शास्त्र है। कण का वास्तु शास्त्र की और क्षण (काल) का विचार करना ज्योतिष शास्त्र की मूलप्रकृति है। अगर कहा जाय तो समग्र दृश्यादृश्य विश्व क्षण और कण का ही व्यापक रूप है। इस विश्व की निर्माण प्रक्रिया का आदि रूप क्या था? इसे कोई नहीं जानता?, मात्र कार्यकारण भाव सम्बन्ध से ही उसे जानने का प्रयास किया जा सकता हैं। एक अवधारणा है कि इस सृष्टि का निर्माण कर्त्ता विश्वकर्मा है। ऋग्वेद के विश्वकर्मा सूक्त में जिज्ञासा करते हुए वैदिक ऋषि कहता है। यथा–

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥[१]

---

१. ऋग्वेद १०/८१/२

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सृष्टि काल में विश्वकर्मा का आश्रम क्या था? कैसे था? सृष्टि कार्य का आरम्भ कहा से किया? कैसे किया? जिस कारण से विश्वद्रष्टा विश्वकर्मा पृथिवी को उत्पन्न करता है और आकाश को अपने महान् सामर्थ्य से निर्माण करता है। इस कारण उसने यह सब कैसे किया होगा?

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध आपो यत्र देवा समपश्यन्त विश्वे॥[१]

वह द्यु-लोक से परे है। इस पृथिवी से भी परे है। जो देव असुरों से भी परे है, वह श्रेष्ठ है। जल ने किस सर्वश्रेष्ठ सर्व संग्राहक गर्भ को धारण किया है जिसमें सब इन्द्रादि देव रह कर परस्पर एकत्र देखते हैं।

इन दो ऋचाओं में विश्वकर्मा के विषय में जिज्ञासा की गयी कि जिस समय विश्वकर्मा सृष्टि का निर्माण कर रहे थे, उस समय उनका आश्रय क्या था? क्यों कि जब सृष्टि ही नहीं थी तो वे कहाँ थे? क्या वे सृष्टि से इतर हैं? अथवा सृष्टि में ही हैं आदि - आदि। प्रथम मन्त्र के अनुसार पृथिवी एवं आकाश के निर्माता विश्वकर्मा ही हैं। दूसरे मन्त्र में स्पष्ट है कि वह द्यु-लोक एवं पृथिवी से परे है। यहाँ पृथिवी का व्यापक अर्थ है जब पृथिवी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुई है तो द्यु (आकाश) तो व्यापक है ही। यहाँ पृथिवी का अभिप्राय उन सभी पार्थिव तत्त्वों से बने हुए लोकों से है और द्यु उनसे सम्बन्धित आकाश तत्त्व है। इसी ऋचा में यह भी स्पष्ट कर दिया कि जल ने ही सर्वश्रेष्ठ सर्वसंग्राहक रूपी पृथिवी को अपने में धारण किया था, क्योंकि वेदान्त में कहा गया है- **तमः पधानविक्षेपशक्तिमदज्ञनोपहितचेतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्नि-रग्नेरापोऽदभ्यः पृथिवी चोत्पद्यते** के अनुसार जल से ही पृथिवी उत्पन्न हुई है। यहाँ पृथिवी का अभिप्राय मात्र हमारी यह पृथ्वी नहीं जिस पर हम रहते हैं अपितु वे सारी पृथ्वियां हैं जो इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं।

ऋग्वेद काल से ही मानव की सबसे बड़ी जिज्ञासा पृथ्वी से नहीं वरन् अन्तरिक्ष से प्रारम्भ हुई है, जहाँ उसने यह विचार किया कि क्या इससे इतर भी कोई ऐसा जगत है? जो हमसे पृथक् है अथवा नहीं। इन दृश्यमान सूर्यादि प्राकृतिक शक्तियों के इतर भी क्या कोई अदृश्यमान सनातन शक्ति है? जिसे देवत्व की भावना से जाना जाता है। हाँ, इसी देव तत्त्व के सन्दर्भ में ही देव और असुर, आर्य और अनार्य आदि प्राचीन जातियों

---

१. ऋग्वेद १०/८२/५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के संकेत प्राप्त होते हैं। इस देश का कोई भी कार्य बिना देव कल्पना के प्रारम्भ नहीं होता, कोई भी शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं माना जाता और न ही कोई भी कला उपयोगी होती है। अतः कह सकते हैं कि सर्वत्र देव भावना ही समाहित है। जैसे- वास्तु में वास्तुपुरुष, संगीत में नाद ब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के पट-चित्र, अध्ययन में मां सरस्वती, ध न-सम्पत्ति में मां लक्ष्मी, शौर्य में मां शक्ति तथा नृत्य में नटराज शिव आदि-आदि। भारतीय स्थापना की यह विशेषता रही है कि उसने कभी भी भवन को मिट्टी, ईंट, गारे, पत्थर आदि का पिण्ड नहीं माना अपितु उसे धार्मिक कृत्य (यज्ञ) के रूप में स्वीकार करते हुए आवश्यक माना। अत एव भविष्य पुराण में कहा गया है कि-

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भ-कर्म चात्राभिधीयते॥

परगेहे कृताः सर्वाः श्रोतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते॥[१]

बिना गृह के कोई भी गुण सम्पन्न गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का विधिवत् निर्वहन नहीं कर सकता। विश्वकर्मादि आचार्यों ने कहा है कि गृह सभी प्रकार के भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक सुखों को प्रदान करता है। यह स्त्री पुत्रादि सुखों के साथ ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक है। यथा-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनां निलयं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।

वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते,
गेहं पूर्णमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥[२]

भारतीय स्थापत्य विशुद्ध आर्य-अनार्य संस्कृति का मिश्रण है। जब वेदों की ऋग्-यजु-साम रूपी विशुद्ध त्रयी संस्था अनार्यो के सम्मिश्रण से या जेताओं और विजेताओं के पारस्परिक आदान प्रदान से अथर्ववेद रूपी उद्भावना "चत्वारो वेदाः" की परम्परा पल्लवित हो सकती है तो क्या ग्राम, अरण्य, सरिता एवं कूल प्रेमी आर्य लोग अनार्यो के "सहस्रस्तम्भ" वाले बहुभूमिक विमानों एवं हर्म्यो का अनुसरण नहीं कर सकते? आर्यो की वास्तु कला पर अनार्यों की परम्परा का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। अत

१. भविष्यपुराण, उद्धृत वास्तुरत्नाकर १.७-८
२. वास्तुराजबल्लभ १/५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एव कह सकते हैं कि हमारा यह प्राचीन स्थापत्य आर्यो एवं अनार्यों दोनों की देन है। आर्य अलंकृति विहीन सीधी सादी रचनाओं के तथा अनार्य अलंकृति से ओत प्रोत विशालकाय लक्षण एवं चित्रणादि से सुशेभित कला के प्रेमी थे।[१]

वस्तुतः भारतीय चिन्तन परम्परा की दृष्टि से स्थापत्य का भूमण्डल ही नही अपितु सम्पूर्ण विश्व ही एक प्रतिपाद्य विषय है। इस विश्व की कोई भी निर्मिति एक वास्तु है। वास्तु का सम्बन्ध वस्तु एवं वस्तुओं से है। वस्तुओं को वास्तु में परिणत करने के लिए ही विश्वकर्मा की आवश्यकता हुई। पुराणों में राजा पृथु का गोदोहन वृतान्त सर्वविदित है। गो यहाँ पृथिवी की संज्ञा है। इस गो दोहन से राजा पृथु ने उबड़, खाबड़, पथरीली एवं कंकरीली भूमि को मात्र ग्राम, पुर, नगर निवेश के उचित ही नहीं बनाया अपितु विभिन्न भूखण्डों, पार्वत्य प्रदेशों, नदी-कूलों, सघन वनों, पादपों और वृक्षों का भी पता लगाया, उन देशों प्रदेशों एवं भूखण्डों की भूमि का परीक्षण भी किया जिससे यह सिद्ध हो कि कौन सा प्रदेश एवं स्थान मानवों के निवास के लिए पूर्णतः योग्य है। साथ ही यह भी मालूम किया कि इस रत्नगर्भा पृथिवी में कहाँ-कहाँ, कौन-कौन सा खनिज पदार्थ आदि बहुमूल्य रत्न हैं। इस प्रकार के अनेकों आख्यानों एवं कथा प्रसंगों को आधुनिक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। पुराणों का पृथु गोदोहन वृतान्त मात्र कथा ही नहीं, अपितु प्राचीन भूगर्भ विज्ञान (Geology) एवं भूगोल (Geography) का वास्तविक वृत्तान्त है।

पृथिवी गोल है आदि में यह उष्ण थी। यथा- **आग्नेयी पृथिवी**[२], **आग्नेयोऽयं लोकः**[३], **अग्निगर्भा पृथिवी**[४]। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इसे संवर्तक एवं आवर्तक आदि मेघों ने घनघोर वर्षा कर शीतल किया और तभी पृथ्वी पर वनस्पतियों, जन्तुओं, और मानवों का क्रमशः विकास हुआ। यह मात्र आधुनिक ज्ञान की उपज नहीं है। हमारे प्रचीन ऋषि एवं आचार्य इस प्रकार के तथ्यों से पूर्ण परिचित थे। ऋग्वेद में सूर्य की स्तुति में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वह सब सूर्य रश्मियों की ही व्याख्या है। आज के परिप्रेक्ष में ये कहें कि सौर ऊर्जा का सर्वाधिक उपयोग करने की बात इससे पूर्व हमारे प्राचीन आचार्य स्वीकार कर चुके हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में सूर्य को "सप्तहरित" "सप्ताश्व" एवं सप्तरश्मि कहा गया है। आज के विज्ञान ने भी सूर्य की सात रश्मियों की

---

१. भवन निवेश पृष्ठ - ६
२. ताण्डयब्राह्मण १५/१४/१८
३. जैमिनीभोपनिषद ९/१३७/१२
४. शतपथ ब्राह्मण १४/१९४/१२१

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ही सत्ता स्वीकार की है। सामान्य लोग सूर्य के रथ में सात घोड़े हैं ऐसा मानते हैं। हरित शब्द हृ धातु से निष्पन्न होता है। यास्क ने अपने निघण्टु में हरित का अर्थ आदान प्रदान करने वाला कहा है। सूर्य रश्मियाँ जैसे आदान करती हैं वैसे ही प्रदान भी करती हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य, वरुणादि तथा आगे चलकर वास्तुपद विन्यास में जिन देवों की प्रतिष्ठा हुई वे वस्तुतः देदीप्यमान् सूर्य देव की रश्मियों के ही नाम हैं और इनके वर्ण, गुणधर्म की दिग् देश काल के अनुरूप व्याख्या है।

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में सृष्टि, भूगोल एवं सौरमण्डल का वर्णन विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है कुछ लोग इसे नहीं समझ पाते हैं कि वास्तु के ग्रन्थों में इसे क्यों दिया गया? तथा इसकी क्या संगति है? भारतीय वास्तु का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समस्त भूमण्डल एवं सौरमण्डल ही नहीं वरन् समग्र ब्रह्माण्ड ही वास्तु का विषय है। जैसा कि इससे पूर्व भी कहा जा चुका है। इसके बाद भी वास्तु की व्याख्या में मात्र भवन निर्माण की कोठरी तक ही सीमित रहना युक्ति संगत नहीं लगता। **यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे** के सिद्धान्त से इस सृष्टि में समग्र निर्माण प्रक्रिया वास्तु ही है।

इस सौर मण्डल में हमारी पृथ्वी एक लघु ईकाई है। यह सौर मण्डल के विभिन ग्रहों से प्रभावित होती है। बिना सूर्य एवं चन्द्र के तो पृथिवी निर्जीव अन्धेरी ही नहीं अपितु पृथ्वी के अस्तित्व की बात करना भी एक कोरी कल्पना होगी। पृथ्वी सौर परिवार की एक सदस्या है यह मात्र सूर्य चन्द्रमा से ही प्रभावित हो जैसा कि आज के भौतिकवादी वैज्ञानिक मानते हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता? क्या पृथ्वी एवं पृथ्वीस्थ जीवन को सौर परिवार के अन्य सदस्य ग्रह प्रभावित नहीं करते? इसे देखने के लिए वैज्ञानिकों को प्रयोग करना होगा और प्रयोग के रूप में पहले सौर परिवार के किसी सदस्य ग्रह को पृथक् कर देखना होगा कि प्रभाव पड़ रहा है या नहीं तभी उन्हें समझ में आयेगा, परन्तु इनका यह प्रयोग कथमपि सम्भव नहीं है। सौर परिवार के परस्पर सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए ही भारतीय मनीषियों ने वास्तु के आरम्भ में की जाने वाली वास्तुशास्त्र के पिण्डसाधन, आयादि विचार, पंचाङ्ग विचार एवं लग्न विचारादि प्रक्रिया को अनिवार्य माना, क्या यह विचारणीय विषय नहीं है? अष्टाङ्ग वास्तु में ज्योतिष का मुख्य स्थान है। वास्तु ज्योतिष का ही उपाङ्ग है और ज्योतिष के ही उद्देश्य की पूर्ति करता है। भवन निर्माण केवल एकाङ्गी कला एवं कृत्य नहीं है अपितु समन्वित एवं सर्वव्यापक प्रक्रिया है। अत एव ज्योतिष, भूगर्भ एवं भूगोल आदि सभी शास्त्रों का सन्निवेश वास्तु में किया गया है। यही इस शास्त्र का व्यापक दृष्टि कोण है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र (स्थापत्य) की एक विस्तृत शास्त्रीय परम्परा एवं वर्तमान में इसके स्वरूप को देखते हुए हमारे यशस्वी कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने जुलाई २००४ में पूर्व संकाय प्रमुख एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के सहयोग से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत विद्यापीठ ने इस विषय का पठन पाठन प्रारम्भ किया। जो वर्तमान में पी. जी. डिप्लोमा पाठ्यक्रम के रूप में सफलतापूर्वक चल रहा है।

एतदर्थ सर्वप्रथम मैं संस्कृत उन्नायक परमश्रद्धेय कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी के चरण कमलों में प्रणाम करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी सतत प्रेरणा एवं दृढ़ संकल्प से यह योजना निर्बाधगति से अपना कार्य कर रही है। इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने एवं सम्यक् दिशा निर्देशन के लिए प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के हम कृतज्ञ हैं। इस प्रकाशन कार्य में उत्साह वर्धन करने वाले हमारे कुशल प्रशासक यशस्वी कुलसचिव डॉ. विजय कुमार महापात्र जी तथा शोध एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी का सराहनीय योगदान रहा है। अतः मैं इन्हें हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इसी सन्दर्भ में प्रकाशन समिति के अध्यक्ष व ज्योतिष विभाग के वरिष्ठ आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष प्रो. प्रेम कुमार शर्मा जी व अन्य सभी विभागीय विद्वान सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ। जिनके सत्परामर्श से **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'पंचमपुष्प' का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिंटिङ्ग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। शमिति।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष- ज्योतिषविभाग
संयोजक- वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोध एवं प्रकाशन समिति

१.	प्रो. प्रेमकुमार शर्मा	अध्यक्ष
२.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी	संयोजक
३.	डॉ. विहारीलाल शर्मा	सदस्य
४.	डॉ. विनोदकुमार शर्मा	सदस्य
५.	डॉ. नीलम ठगेला	सदस्य
६.	डॉ. दिवाकरदत्त शर्मा	सदस्य
७.	डॉ. परमानन्द भारद्वाज	सदस्य
८.	डॉ. सुशीलकुमार शर्मा	सदस्य
९.	डॉ. फणीन्द्रकुमार चौधरी	सदस्य
१०.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषयानुक्रमणिका

१.	वास्तुशास्त्र एवं जलव्यवस्था	**प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी** ८८२-ए, वार्ड न. ६ महरौली नई दिल्ली-३०	१
२.	वास्तुशास्त्र एवं शालविधान	**प्रो. वासुदेव शर्मा** आचार्य एवं अध्यक्ष ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर त्रिवेणी नगर, जयपुर (राजस्थान)	८
३.	गृहासन्न रोपणीय वृक्ष एवं वनस्पति	**प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र** आचार्य एवं अध्यक्ष ज्योतिष विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी-५	१८
४.	वास्तुशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भूकम्प एवं भूकम्परोधी भवन	**प्रो. गणेश भारद्वाज** आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर पंजाब विश्वविद्यालय, चण्ढीगढ़	२४
५.	भूमिशोधन में शल्योद्धार प्रक्रिया	**डॉ. बिहारीलाल शर्मा** उपाचार्य, ज्योतिष विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	२७
६.	वास्तुशास्त्र विषयक जैन परम्परा	**डॉ. अनेकान्त कुमार जैन** सह आचार्य, ज्यौतिष विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	३४
७.	द्वारस्थापना के वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्त	**डॉ. अशोक थपलियाल** सह आचार्य, ज्यौतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर ई ७६२, अरेरा कालोनी, भोपाल (म.प्र.)	४१

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

८.	वास्तु में मण्डप विधान	**डॉ. देशबन्धु शर्मा** ८६ प्रोफेसर कालोनी मेनरोड फगवाड़ा, पंजाब-१४४४०१	५२
९.	वास्तुशास्त्र में खात विधान	**डॉ. सुभाषचन्द्र मिश्र** अतिथि प्राध्यापक श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	५७
१०.	मन्दिर-वास्तु एवं विग्रह विन्यास	**डॉ. उमाशंकर** २०१, डी.एस. कोठारी, छात्रावास दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७	६५
११.	भवननिर्माण प्राक् वास्तुविचार	**डॉ. नवीन राजपूत** तकनीकी सहायक पुस्तकालय श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	११०
१२.	मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र का स्वरूप	**डॉ. मीतू गौड** प्रोजेक्ट फैलो, ज्योतिष विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	१२४
१३.	प्रासाद विन्यास	**श्री रामेश्वर दयाल शर्मा** शोध छात्र, ज्योतिष विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	१६२
१४.	महाकालेश्वर मन्दिर की वास्तुकला	**श्री रमण कुमार** ४११, मान सरोवर छात्रावास दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७	१७०
१५.	भूमि परीक्षण	**श्री नवीन कुमार** बी-४०, क्रिश्चिन कालोनी पटेल चौक, दिल्ली-७	१७५
१६.	वज्रलेप निर्माण एवं प्रयोग	**श्री प्रवेश व्यास** शोध छात्र, ज्योतिष विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१६	१८५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

M.Katyayana

वास्तुशास्त्र एवं जलव्यवस्था

–प्रो० ओंकारनाथ चतुर्वेदी

अखिल ब्रह्माण्ड में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इन पञ्च महाभूतों के बिना चराचर जगत् की कल्पना भी संभव नहीं है। सम्पूर्ण सौरमण्डल में ग्रह-नक्षत्र-तारे आदि के मूर्तत्व में आनुपातिक रूप से पञ्च महाभूतों का ही योगदान है। इन पञ्च महाभूतों के गुणों में क्रमिक ह्रास है–जैसे पृथिवीतत्व में 5 गुण, जलतत्व में 4 गुण, तेजतत्व में 3 गुण, वायु में 2 गुण तथा आकाश तत्त्व में केवल एक गुण विद्यमान है। एकाधिक गुणशाली तत्वों में उनका एक गुण ही विशिष्ट तथा अन्य गुण सामान्य होते हैं।

स्पष्टार्थ चक्र

	पञ्चमहाभूत	*सामान्यगुण*	*विशेषगुण*
1.	पृथ्वी	शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध	गन्ध
2.	जल	शब्द, स्पर्श, रूप, रस	रस
3.	तेज	शब्द, स्पर्श, रूप	रूप
4.	वायु	शब्द, स्पर्श	स्पर्श
5.	आकाश	शब्द	शब्द

वसन्त्यस्मिन् इति वास्तु अर्थात् जिस भूमि या भवन में लोग निवास करते हैं, उसे वास्तु कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानवशरीर को पाञ्चभौतिक निरूपित करते हुए लिखा है–

क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा। पञ्चरचित यह अधमशरीरा।।

मनुष्यों में जिस प्रकार पञ्चमहाभूतों का आनुपातिक सम्मिश्रण है, जिसमें जलतत्व की मात्रा मानव रक्त में 80 प्रतिशत् पाई जाती है, उसी प्रकार वास्तु-शास्त्र में भी उक्त पञ्चमहाभूतों के गुण-धर्म का भली प्रकार तार्किक बुद्धि से विचार कर वास्तु अर्थात् भवन निर्माण में इनका समन्वय दिखलाई देता है। भवन में निवास करने वाले व्यक्तियों की सुख-शान्ति को दृष्टि में रखकर पञ्चमहाभूतों के सन्तुलन के द्वारा व्यक्ति की अधिकाधिक सुविधा एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही वास्तु शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ प्रतीत होता है। वास्तुशास्त्र में जलतत्व को प्रधानता दी गई है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भवननिर्माण में सर्वप्रथम भूमि का विशेष महत्व है। भूमि किस प्रकार की हो? किस आकार की हो? किस गन्ध की हो? किस रंग (वर्ण) की हो? इसका विस्तृत विवेचन वास्तु शास्त्र में बतलाया गया है। भूमि में भी जलयुक्त भूमि का विशेष महत्व प्रदर्शित किया गया है। बृहद्वास्तुमाला में उल्लेख है–

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।
तृणापलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ धरा।।[1]

अधिक जलवाली भूमि को वास्तुशास्त्र में प्रशस्त माना गया है। सम्पूर्ण भूमण्डल पर नगर, महानगर, अथवा अन्य मानवों की बड़ी वस्तियाँ प्रायः वहीं पर स्थित हैं, जहाँ पर समीप में, झील, नदी, पोखर अथवा समुद्र विद्यमान हैं। यदि प्राकृतिक रूप से ऐसा नहीं होता तो वहाँ पर बावड़ी, तालाब आदि का निर्माण करके प्रचुर मात्रा में जल की उपलब्धि सुनिश्चित करने के पश्चात् ही बस्तियों का अस्तित्व बनता है। भूमि विशेष में विशेष प्रकार की व्यवस्था द्वारा जल का सन्तुलन बनाया जाता है। जैसे–मरुस्थल या अल्पमात्रा में जलोपलब्धि वाली भूमि में तालाब, पोखर बावड़ी आदि की व्यवस्था कर सतत जलोपलब्धि सुनिश्चित करके ही बस्तियाँ बनती हैं। अतिवृष्टि या हिमपात वाले स्थानों में भवनों की छत ढलान युक्त बनायी जाती हैं, ताकि अधिक जल ठहराव न होने पाये, अनावश्यक जल मकानों अथवा बस्तियों से बाहर निकल जाए। दरिया अथवा समुद्र किनारे की बस्तियों में आवश्यकतानुसार बाढ़ से सुरक्षा की दृष्टि से सुरक्षा दीवारों का निर्माण किया जाता है। जलोपलब्धि ही जीवन प्रदाता है। अतः ये उक्तियाँ चरितार्थ होती हैं **"जल ही जीवन है", "जल में बसे जगत के प्राण"।**

वास्तुशास्त्र में सामूहिक रूप से नगर या गाँव से किधर अर्थात् किस दिशा में कूपादि शुभफलदायक होते हैं? और किस दिशा मे अशुभ फलप्रदायक होते हैं? यह वर्णन करते हुए वराहमिहिराचार्य ने लिखा है कि–

आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत् कूपः।
नित्यं स करोति भयं, दाहं च समानुषं प्रायः।।

नैर्ऋतकोणे बालक्षयं च वनिताभयं च वायव्ये।
दिक्त्रयमेतत् त्यकत्वा शेषासु शुभावहाः कूपाः।।[2]

ग्राम या नगर (बस्ती) के अग्निकोण में कूआं हो तो प्रायः (नित्य) ग्रामीण या नागरिकों को अनेक प्रकार से भय, अधिकतर अग्निकाण्ड तथा उससे जलकर सामूहिक जन-धन की हानि

---

1. वृहद्वास्तुमाला, 1/77
2. बृहत्संहिता,दकार्गलाध्याय श्लोक 97-98

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

होती है। नैऋत्य कोण में कूप होने से बालकों की क्षति (मृत्यु) तथा वायव्यकोण में कूप होने से स्त्रियों को भय पैदा हो जाता है। अर्थात् अग्निकोण, नैऋत्यकोण एवं वायव्यकोण को छोड़कर शेष पाँचों दिशाओं में कूआ शुभफलदायक होता है।

व्यक्तिगत भवन-मकान आदि में जल की व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक एवं अपरिहार्य होता है। वास्तुशास्त्र में इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया है। प्रत्येक भवन में जल के स्त्रोत, जल का भण्डारण तथा जल के प्रवाह की व्यवस्था अनिवार्य होती है।

जल के स्त्रोत

प्राचीनकाल में कूएं द्वारा ही जलप्राप्ति प्रायः होती थी, आज के सन्दर्भ में जलापूर्ति, नल अथवा बोरिंग आदि से की जाती है। जल भण्डाराण भूमिगत टैंक, फर्श की सतह अथवा कुछ ऊँची जगह जल भण्डार के लिए टंकी का निर्माण किया जाता है। प्रायः छोटे मकानों अथवा बहुमंजिले फ्लैटों में पानी की टंकी भवनों की छत पर रखी जाती हैं, ऊँचे स्थान पर जलस्थित रहने से बिना किसी विशेष उर्जा संयत्रों के ही निरन्तर प्रवाहित होकर जलप्राप्ति होती रहती है।

अतः वास्तुशास्त्र में कूपादि के विषय में जो नियम व दिशा निर्देश किये गए हैं। उन्हीं के अनुसार आधुनिक जल स्त्रोत, जल भण्डारण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। जहाँ पर वास्तु के नियमों में टकराव दिखलाई दे। वहाँ पर वास्तुशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का उल्लंघन कदापि नहीं करना चाहिए। जहाँ पर कूप की निर्धारित दिशाओं के शुभाशुभ फलबतलाये गए हैं। वहीं पर आधुनिक जल भण्डारण किए जा सकते हैं। इस विषय में मुहूर्त चिन्तामणिकार रामर्देवज्ञ का मत द्रष्टव्य है। यथा–

कूपे वास्त्रोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।
सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीड़ाशत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।[1]

वास्तुभूमि के मध्य में कूप अथवा जलभण्डार बनाने से धनहानि, ईशान्यादि दिशाओं में क्रम से ईशान्य में पुष्टि, पूर्व में ऐश्वर्यवृद्धि, आग्नेयकोण में पुत्र-नाश, दक्षिण दिशा में स्त्री विनाश, तथा नैऋत्य कोण में कूपादि गृहकर्ता को मृत्युदायक होता है। पश्चिम दिशा में सम्पति लाभ वायव्यकोण में शत्रु-पीड़ा एवं उत्तरदिशा में कूप अथवा जल भण्डारण करना सौख्य दायक होता है। इसी प्रकार का वचन वशिष्ठ जी का भी उपलब्ध होता है–

ऐश्वर्यं पुत्रहानिश्च स्त्रीनाशो निधनं भवेत्।
संपच्छयुभयं सौख्यं पुष्टि प्रागादितः क्रमात्।।

---

1. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्याय श्लोक 115

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कूपे कृते मध्यमे तु धनहानिश्च वास्तुनः।
तस्मात्-सम्यक् विचार्यैवं कूपं कुर्याच्चबुद्धिमान्।।[1]

उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है, कि ईशान्य-पूर्व-पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं में ही जल भण्डार वास्तुशास्त्र सम्मत तथा शुभ फलदायक होता है, शेष दिशाओं में अशुभ होता है। यद्यपि पूर्व दिशा में कूप आदि जल भण्डार की व्यवस्था वास्तुशास्त्रकारों ने प्रशस्त बतलाई है। किन्तु कहीं कहीं पूर्व दिशा को भी अशुभ फलदायक माना है।

प्राच्यादिस्थे सलिले सुतहानिः शिखिभयं रिपु भयं च।
स्त्रीकलहः स्त्री दौष्ट्यं नैस्व्यं वित्तात्मजविवृद्धिः।।[2]

वराहमिहिराचार्योक्त पद्य में पूर्वादिदिशाओं में क्रम से कूप या जल स्थित होने से निम्नफल बतलाए गए हैं। पूर्व में जल पुत्र हानि, आग्निकोण में अग्निभय, दक्षिणदिशा में रिपुभय, नैऋत्य में स्त्रियों में कलह, पश्चिम दिशा में स्त्रियों में दुराचारता, वायव्य में निर्धनता तथा उत्तरदिशा में जल की स्थिति धनवृद्धिदायक एवं ईशान्यकोण में पुत्रसन्तति की विशेष वृद्धि होती है। उक्त प्रमाण से केवल ईशान्य कोण एवं उत्तर दिशा में ही जलस्थिति शुभ मानी गई हैं। पूर्व-पश्चिम दिशा भी जल भण्डारण उपर्युक्त नहीं माना गया है। इस विरोधाभास का समाधान वास्तुशास्त्र के नियमों द्वारा ही किया जा सकता है।

वास्तुशास्त्र का सर्व सम्मत सिद्धान्त है, कि भवन की पश्चिम एवं दक्षिण दिशा उन्नत एवं भारी होनी चाहिए। पूर्व एवं उत्तर दिशाएं नीची, तथा भार रहित हानी चाहिए अतः। पूर्वदिशा में जलभण्डार का समाधान हो जाता है। पश्चिम दिशा जल के अधिष्ठाता वरुण देवता की होती है, अतः उस दिशा में जल की स्थापना स्वीकार्य हो सकती है। वस्तुतः पूर्व-पश्चिम, उत्तर एवं ईशान्य इन चार दिशाओं के अतिरिक्त शेष छः दिशाओं में जल भण्डार करना सर्वथा वास्तुविरुद्ध होता है।

विशेष—यह तथ्यपरक नियम भूमिसहित एकाकी एकमञ्जिल के मकानों एवं गृहभ्यन्तर जल व्यवस्था के लिए ही स्वीकार्य है। आधुनिक विकास में मकान एवं फ्लैट्स की छतों पर प्रायः टंकियों के रखने की व्यवस्था का प्रचलन दिखलाई देता है। वहाँ इस नियम में परिवर्तन करना ही वास्तु सम्मत होगा।

पश्चिम दक्षिण दिशा भारी एवं उन्नत वास्तु शास्त्र में प्रशस्त हैं। अतः छत पर टंकी रखने में पश्चिम दक्षिण दिशा ही उपयुक्त प्रतीत होती है। भूतल की तरह उत्तर-पूर्व या ईशान्य कोण में छत के ऊपर टंकी रखकर उक्त दिखाओं को भारयुक्त व उन्नत बनाना उपयुक्त नहीं है।

---

1. वही, श्लोक 116
2. बृहत्संहितावास्तुविद्याध्यायश्लो० 119

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जल भण्डारण की व्यवस्था के अतिरिक्त भवन की आन्तरिक व्यवस्था में जहाँ जहाँ निरन्तर जल प्रयोग की आवश्यकता होती है, उस स्थानों पर भी वास्तुसम्मत जल स्थान निर्धारित करने पर भी प्रकाश डालना उपयुक्त होगा जैसे रसोईघर, स्नानागार, शौचालय, सैप्टिक टैंक एवं जलनिस्सारण (नाली) आदि।

रसोईघर– यहाँ जल की निरन्तर आवश्यकता रहती है, सुविधा की दृष्टि से पाकशाला में जल की उपलब्धि के लिए नल अथवा जलभण्डार में से पाइप द्वारा जलापूर्ति करने की व्यवस्था की जाती हैं। रसोईघर निर्माण की सबसे उपयुक्त दिशा भवन के आग्निकोण में हैं। रसोई घर में नलका ईशान्य, पूर्व एवं उत्तर दिशा में लगाना ही शास्त्र सम्मत एवं सुविधाजनक होता है।

स्नानघर–पृथक् से स्नानगृह बनाना हो, तो पूर्वदिशा में ही सर्वाधिक उपयुक्त होता है। शावर (फब्बारा) नलका पूर्व अथवा पश्चिम में बनायें। उत्तर दिशा में बनाना पड़े तो वायव्य कोण के निकट बनायें ईशान्य कोण में उचित नहीं होगा।

शौचालय–शौचाल्य की सर्वोत्तम दिशा नैऋत्य दक्षिण के मध्य हैं।[1] उसमें कुण्डी के समीप नलका पश्चिम में तथा बेसिनपूर्व दिशा में ही उपयुक्त होता है।

सम्मिलित स्नान गृह एवं शौचलय–आज की परिस्थिति एवं चलन के अनुसार, स्नानागार एवं शौचालय एक ही बनाये जाते हैं, यहाँ तक शायन कक्ष के साथ ही स्नानघर-शौचालय भी संयुक्त रूप से होना आज के परिप्रेक्ष्य में सुविधाजनक माना जाता है परन्तु सभी का सम्मिलित होना (एककक्ष में तीन कक्ष) वास्तुसम्मत कदापि नहीं हो सकता, फिर भी जलव्यवस्था यथा संभव वास्तु सम्मत बना लेना उचित होता है।

अतः पूर्व-पश्चिम एवं उत्तर दिशा कें सम्मिलित कक्षों में जल का स्थान निर्धारित करना उपयुक्त होता है।

सैप्टिक टैंक–आधुनिक युग में नगरों में प्रायः सीवरलाइन का जाल विछा रहता है। अतः मलनिःसारण उनके माध्मयम से ही होता है। यदि निवास स्थान पर सीवर लाईन की सुविधा उपलब्ध न हो तो सैप्टिकटैंक निर्माण करना आवश्यक हो जाता है।

सैप्टिक टैंक के विषय में वास्तुशास्त्रियों के मतानुसार अग्निकोण की तरफ पूर्वादिशा में, वायव्यकोण के साथ पश्चिम या उत्तर दिशा में बनाना उपयुक्त होता है। कुछ विद्वान् ईशान कोण से सटी हुई, उत्तर या पूर्व दिशा को भी सैप्टिक टैंक बनाने की अनुमति देते हैं। मेरी दृष्टि में यह उचित नहीं है क्योंकि जल के सहित मल का संग्रह होने से ईशान्य कोण भारी हो जाएगा, वह कोण हमेशा हल्का व रिक्त होना वास्तु शास्त्र में प्रशस्त माना जाता है। ईशान कोण देवताओं का

---

1. वास्तुरत्नावली, पृष्ठ 126

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भी स्थान है। अतः उसके पास गन्दगी रखना भी वास्तु सम्मत नहीं माना जा सकता। बाध्यता होने पर नैऋत्य कोण से दक्षिण पश्चिम में बनाया जा सकता है।

सैप्टिक टैंक नींव या मकान की दीवाल से हटकर ही बनाना चाहिए। बेसमेण्ट (तलघर) यदि बने तो उससे 3-4 हाथ दूर ही टैंक का गड्ढा बनाना तथा गहराई तक ले जाना ही उचित होगा। गड्ढे की लम्बाई पूर्व-पश्चिम दिशा में अधिक होनी चाहिए।

जल प्रवाह (नाली)–गृहवास्तु में घर के आभ्यन्तर सभी प्रकार से जल का प्रयोग कर बाहर निकालने की व्यवस्था भी नितान्त आवश्यक है। वास्तुशास्त्र के मूल सिद्धान्तों में गृह की पश्चिम दक्षिण दिशा ऊँची तथा पूर्वोत्तर दिशा ढलानयुक्त नीची प्रशस्त मानी गई है। जल निष्कासन ढलान की ओर ही होता है विपरीत करने पर जल प्रवाह अवरुद्ध होकर अनेक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न कर देता है। अतः सामान्य रूप से ईशान्य, पूर्व, वायव्य, उत्तर दिशा ही जल प्रवाहित करने की नालियाँ बनाने के लिए उपयुक्त हैं। शेष दिशाएं उचित नहीं है। कहा भी है–

पूर्वे वहति शुभं किंचिदग्नि कोणे धनक्षयम्।
दक्षिणे प्राण सन्देहो नैऋत्ये प्राणघातकः॥
पश्चिमे पुत्रनाशाय वायव्ये सुखमेव च।
उत्तरे राजसम्मानं ईशाने सुखसम्पदः॥[1]

जलस्राव पूर्व दिशा में शुभ, अग्निकोण में किंचित् धनक्षय, दक्षिण दिशा में प्राणों का संकट, नैऋत्य में प्राणघातक होता है। पश्चिम दिशा में पुत्र-नाश, वायव्य में सुखदायक, उत्तर में राजसम्मान प्रदायक तथा ईशान्य कोण में नाली बनाना सुख सम्पत्ति बढ़ानेवाला होता है। वास्तु के अन्य ग्रन्थों में भी इस नियम की पुष्टि होती है।

शुभं मृतिश्च निर्धन क्षयं च पुत्रनाशनम्।
सुखं च राज्य सम्पदा धनं क्रमेण पूर्वतः॥[2]

पूर्व में शुभ, आग्निकोण में मृत्यु, दक्षिण में निर्धनता, नैऋत्य में क्षति, पश्चिम में पुत्रनाश, वायव्य में सुखदायक उत्तर में राज्यसम्पत्ति तथा ईशान्य कोण में नाली बनाना धनदायक होता है। इसी प्रकार शब्दों के अन्तर से अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

पूर्ववाहैः धनं किञ्चिदाग्निकोणे धनक्षयः।
याम्ये रोगभयं विद्यान्नैऋत्ये कलहागमः॥

---

1. बृहद्दैवज्ञरंञ्जन श्लो० 410-417
2. वही

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पश्चिमे मरणं सूनोर्वायव्ये बन्धुदर्शनम्।
उत्तरे सर्वासिद्धिः स्यादीशाने सुखसम्पदः॥[1]

पूर्वदिशा में जलप्रवाह से धनागम, आग्नेय कोण में कुछ धन क्षय, दक्षिण दिशा में रोगभय होता है। नैर्ऋत्य में कलह, पश्चिम दिशा में पुत्र की मृत्यु वायव्यकोण में बन्धु बान्धवों का दर्शन (समागम) तथा उत्तर दिशा में जल प्रवाह से सभी प्रकार की सिद्धि (सफलता) एवं ईशान्य कोण में नाली होने से सुख-सम्पत्ति (समृद्धि) की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की जल व्यवस्था का वर्णन वास्तुशास्त्र सम्मत है। आज की महानगरीय परिस्थिति को देखकर यथा सम्भव वास्तु सम्मत गृहनिर्माण कराना एक कठिन कार्य है। वास्तु के नियम प्राकृतिक शाक्तियों एवं पञ्चमहाभूतों के उपयोग से व्यक्ति को प्राकृतिक वातावरण प्रदान करने को बनाये गए हैं। ताकि व्यक्तियों को निवास स्थान में पूर्ण सुरक्षा, समृद्धि एवं आरोग्य प्राप्त हो सके। अन्यथा परिस्थितियों का दास बनकर अपने भाग्य के अनुसार समय समय पर व्यक्ति कष्टों का अनुभव करता हुआ जीवन यात्रा पूर्ण करता है।

---

1. बृहद्दैवज्ञरंञ्जन श्लो० 410-417

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र एवं शालविधान

–प्रो० वासुदेव शर्मा

ॐ वास्तोष्पते प्रति जानीहयस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[1]

हे वास्तोष्पते! तुम हमें अपना समझो, हमारे घर को नीरोग करने वाले हो, जो धन हम तुम्हारे पास मांगेगे वह हमे दे दो, हमारे द्विपद और चतुष्पद के लिए कल्याणकारी हो।।

भारतीय ज्ञान विज्ञान के मूलग्रन्थ ऋग्वेद की ये पङ्क्तियां वास्तुशास्त्र के प्रधान देव वास्तोष्पति की प्रार्थना स्वरूप तथा घर को रोगरहित करने धन धान्य से पूर्ण करने और घर में रहने वाले द्विपद और चतुष्पद के कल्याण की कामना के साथ उद्धृत करते हुए हम वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत शालविधान का विवेचन करते हैं।

सर्वप्रथम वास्तुशास्त्र में शालाविधान के विषय में "शाला" अथवा "शाल" शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। अथर्ववेद[2] का **–तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी** यह मन्त्र सबसे प्राचीन एवं मूलस्वरूप में तृणादिकों से निर्मित गृह को शाला रूप में ही प्रतिपादित करता है। वस्तुतः सर्वप्रथम गृह की प्रकल्पना वृक्षों की पत्राच्छादित शाखाओं दूर्वा व फलपुष्पयुक्त उद्यानों तथा जल स्थानों से संयुक्त प्राकृतिक वातावरण में ही भारत का वैदिक ऋषि करता था और उसे शाला नाम से व्यवहृत किया जाता था। अर्थववेद के षष्ठ काण्ड में 106 वें सूक्त के निम्न 3 मन्त्रों में शाला को ही गृह का पर्याय स्वीकार किया गया है–

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुडरीकवान्।।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कुधि।।
हिमस्य त्वा जरायुणा <u>शाले</u> परिव्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्।।।

---

1. ऋग्वेद, 7/54/1
2. अथर्ववेद 9.3/17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् तेरे घर के आगे ओर पीछे फूलों से युक्त दूर्वा घास उगे। वहां एक हौद हो, अथवा वहां कमलों वाला तालाब बने।

यह जलों का प्रवाह स्थान होवे, समुद्र के समीप का स्थान हो, तालाब के बीच में हमारा घर हो। घर के द्वार परस्पर विरुद्ध दिशा में हो।

हे शाले! तुझे शीत के आवरण से घेरते हैं। हमारे लिए शीतल जल वाले तालाब बहुत हों और हमारे लिए अग्नि शीतनिवारण का उपाय करे।

इन मन्त्रों का भावार्थ यही है कि शाला अर्थात् गृह के आगे पीछे दूर्वा का उद्यान हो उसमें बहुत प्रकार के फूल उत्पन्न हों, वहां जल का हौद हो और कमलों वाला तालाब हो। शाला के पास जल के प्रवाह चलें, शाला का स्थान समुद्र के किनारे पर हो अथवा जल स्थान के मध्य में हो, घर के द्वार और खिडकियां आमने सामने हों। घर के चारों ओर जल की व्यवस्था हो ओर यदि शीताधिक्य हो तो शाला में शीतनिवारणार्थ अग्नि जलाने का स्थान हो।

शाला विधान, शाल विधान या गृह विधान का निर्देश, विधि, नियम बताते हुए वैदिक ऋषि सर्वप्रथम गौ शाला, यज्ञ शाला में आवश्यक स्तम्भ निर्माण उनके जोड़, बन्धन, बांस, काष्ठ और तृण घास आदि के प्रयोग के बारे में वेदों में अनेक स्थानों पर निर्देश देते हुए कहते हैं। यथा[2]–

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्वाराया नद्धानि वि चृतामसि॥

यत् ते नृद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।
बृहस्पति रिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत्॥

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परुंषि विद्वांछस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि॥

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि॥

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥

शाला की माप करने वाले, शाला निर्माण और शाला का ग्रहण करने वालो की दीर्धायु की कामना करते हुए वैदिक ऋषि कहता है–

---

1. अथर्ववेद– 6/106/03
2. अथर्ववेद, 9/3/1–31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यस्त्वा शाले प्रतिगृहणाति येन चासि मितां त्वम्।
उभौ मानस्य पत्नि तो जीवतां जरदष्टी।।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के नवमकाण्ड के तृतीय सूक्त में दशशाल तक विभिन्न दिशाओं में मुख वाली शालाओं के निर्माण के संकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं[1]–

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्।
अग्निहर्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः।।

इमा आपः प्र मराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना।।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि।।

प्राच्या दिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

दक्षिणायाः दिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

प्रतीच्याः दिशः शालायाः
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

उदीच्याः दिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

ध्रुवायाः दिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

ऊर्ध्वायाः दिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येऽभ्यः।।

---

1. अथर्ववेद 9/3/21-31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशोदिशः शालाया
नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्योऽभ्यः॥

इन वैदिक मन्त्रों के आधार पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि वैदिक काल में शाला गृह का पर्याय था। तथा एकशाल से दशशाल तक अनेक दिशाओं में मुख करके निर्मित होने वाली शालाओं के वर्णन से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है वैदिक काल में गृह कल्पना पूर्णकुटियों, तृण काष्ठ पत्र से आच्छादित शालाओं के रूप मे की गयी। पुराणों में शाखा से शाला की उत्पत्ति होना स्वीकार किया गया है। वायुपुराण[1] का वचन है–

एवम् प्रसिद्धाः शाखाभ्यः शालाश्चेव गृहाणि च।
तस्मात् ता वै स्मृता शालाः शालात्व चैव तासु तत्॥

वृक्षों की शाखाओं पत्रों आदि के द्वारा वैदिक काल में यज्ञशाला, वर्णशाला और कुटियों का निर्माण शाखा से शाला की स्थिति को अभिव्यक्त करता प्रतीत होता है। वृक्षों की शाखा, काष्ठ आदि का महत्त्व गृहनिर्माण में पौराणिक काल में भी अभिप्रेत था। यह मार्कण्डेय[2] पुराण के इस वचन से सिद्ध होता है–

गृहाकारा यथा पूर्वम् तेषामासन् महीरुहाः।
तथा संस्मृत्य तत्सर्वम् चक्रे वेश्मनि ता पुनः॥

पौराणिक काल में शाला शब्द से गृह का बोध होने लगा तथा वृक्षों के आच्छादन स्वरूप को आधार बनाकर पाषाण पक्वेष्टिका, अपक्वेष्टिका, पंक, काष्ठ (दारु), वंश, वस्त्र, तृण, स्वर्ण, चांदी, ताम्र, लोहा, लाक्षा, रांण व जलमय गृहो का निर्माण, अनेक प्रकोष्ठ, अलिन्द गवाक्ष, मण्डप, आदि से युक्त विविध आवासीय गृहों का निर्माण किया जाने लगा। विभिन्न गृहों (शलाओं) के भेदों का वर्गीकरण करते हुए सर्वप्रथम हिरयण्गर्भ[3] मुनि के मतानुसार चतुर्दश प्रकार के गृहों का निर्देश किया गया है–

गृहं तु विविधं प्रोक्तम् शरीरैस्तु पृथग्विधैः।
पाषाणैर्निचितम् यच्च तद्गृहं मन्दिरं स्मृतम्॥
पक्वेष्टकम् वास्तु नाम भवनं हितमुत्तमम्।
अभिष्टकं सुमन्तं तु सुधारं कर्दमेन तु॥
मानस्य वर्धितं काष्ठैर्वेणुभिर्नन्दनं स्मृतम्।
वस्त्रैश्च विजयं प्रोक्तं राज्ञां शिल्पिविकल्पितम्॥

1. वायु पुराण 8/126
2. मार्कण्डेय पुराण 49-52
3. बृहत्संहिता 53-41में टीका में उद्धृत वचन

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कालिमेति च विज्ञेयम् अष्टमं तृण जातिभिः।
उत्तमानि तु चत्वारि गृहाणि गृहमेधिनाम्॥
सौवर्णं राषतम्। ताम्रम आमसं च प्रकीर्तितम्।
सौवर्णं पुष्करं नाम राजतं श्री भवं तथा॥
ताम्रेण सूर्यमन्तम् तु चण्डनाम तथा यसम्।
देवदानव गन्धर्व यक्ष राक्षस किन्नरैः।
द्वादशेंते प्रकाशस्तु गृहाणां नियताः स्मृताः॥
जातुसं त्वानिलं नाम त्राषुसं वारिबन्धकम्।
एवञ्जातिषु सर्वासु गृहाणि तु चतुर्दश॥

परवर्ती ग्रन्थों में 'शाला' शब्द गृह या कक्ष के पर्याप के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। वास्तुसौख्य[1] में– **'शलाशब्देन गृहाभ्यन्तरमुच्यते'** अर्थात् गृह का भीतरी भाग जो कि आच्छादन युक्त होता है शाला कहा जाता है। समराङ्गण[2] सूत्रधार में– **"गृहमेकं तु यच्छन्नम् सर्वं शालेति सा स्मृता"**। मानसार[3] में शाला शब्द गृह और देवालय दौनों के लिए प्रयुक्त हुआ है–

सुराणां भूसुराणां च वर्णानां वासयोग्यकम्।
सर्वासामापि शालानां रक्षणं वक्ष्यतेऽधुना॥

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक वास्तुशास्त्र के इतिहास में परवर्तीकाल आते आते शाला या शाल शब्द गृहनिर्माणार्थ विस्तृत भूखण्ड पर बनने वाले विभिन्न कक्षों के लिए प्रयोग होने लगा। तथा समराङ्गण सूत्रधार, मानसार, राजवल्लभमण्डन, वास्तुमण्डन, विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, बृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में एकशाल से लेकर दशशाल पर्यन्त बनने वाले भवनों कक्षों का अलिन्द, मूषा, भद्र अपवर्ग षड्दारुक आदि के आधार पर अनेक भेदों में निरूपण किया गया है। यद्यपि एकशाल से चतुश्शाल तक के भवन निर्माण का विशेष वर्णन उपरोक्त ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तथापि **एक शाल भवनों** में प्रस्तार विधि के अनुसार अलिन्द के कारण 16 भेद[4] वर्णित हैं। जिनके नाम ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुवक्त्र, दुर्मुख, क्रूर, विपथ, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय हैं।

---

1. वास्तु सौरव्यम् पृ. 29
2. समराङ्गण सूत्रधार 18-19
3. मानसार 35.01
4. ध्रुवं च धान्यं जयनन्दसंज्ञे खराख्यकान्ते च मनोरमाख्यम्।
सुवक्त्रकं स्यात् किल दुर्मुखाख्यम् क्रूरं विपथं धनदं शयं च॥
आक्रन्दं वैपुल विजमे च फलानि नाम्ना सद्धशानि तेषाम्॥ -राजवल्लभ मण्डम् अं. 6 श्लो. 4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इन षोडशगृहों के निर्माणार्थ आचार्य सूत्रधारमण्डन ने राजवल्लभ मण्डन या वास्तुमण्डन आदि ग्रन्थों में जो विधि निर्दिष्ट की है तदनुसार अलिन्द के अनुसार निम्न भेद निष्पन्न होते हैं–

1. ध्रुव – अलिन्द हीन गृह
2. धान्य – पूर्व दिशा में अलिन्द युक्त गृह
3. जय – दक्षिण दिशा मे अलिन्द युक्त गृह
4. नन्द – पूर्व और दक्षिण में दो अलिन्द युक्त गृह
5. खर – पश्चिम दिशा में अलिन्दयुक्त गृह
6. कान्त – पूर्व और पश्चिम दिशा में अलिन्द युक्त गृह
7. मनोरम – दक्षिण और पश्चिम में अलिन्द युक्त गृह
8. सुवक्त्र – पूर्व दक्षिण और पश्चिम में अलिन्द युक्त गृह
9. दुर्मुख – उत्तर दिशा में अलिन्द
10. क्रूर – पूर्व ओर उत्तर में अलिन्द
11. विपथ – दक्षिण ओर उत्तर में अलिन्द
12. धनद – पूर्व, दक्षिण और उत्तर में अलिन्द
13. क्षय – पूर्व और उत्तर में अलिन्द
14. आक्रन्द – पूर्व, पश्चिम और उत्तर में अलिन्द
15. विपुल – दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में अलिन्द
16. विजय – सभी दिशाओं में अलिन्द

इन सभी गृहो में अलिन्द का व्यापक महत्त्व है। अलिन्द के अतिरिक्त दिशाओं में शाला की भित्ति या शाला का निर्माण होता है। यथा 'ध्रुव' संज्ञक गृह अलिन्द हीन होता है। इससे तात्पर्य है चारों दिशाओं में भिति का निर्माण होना चाहिए। यहां अलिन्द शब्द से बरामदा सामान्य अर्थ है। परन्तु इस अलिन्द' शब्द का भी व्यापक विश्लेषण वास्तुग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा–

अमर कोष[1] में–**"प्रघाण प्रघणालिन्दा बहिर्कार प्रकोष्ठके"** कहा है। अर्थात् बरामदा कक्ष की भित्ति के बाहर आने जाने का मार्ग (खुला स्थान) जिसके ऊपर छाद्य हो। इसकी स्थिति गृह के बाहरी द्वार तथा आंगन की ओर खुलने वाले द्वार के साथ कही भी हो सकती है। अधिकांश मतों के अनुसार इसे गृह का बाह्य भाग मानते हैं। समराङ्गण सूत्रधार में कहा गया है–

1. अमर कोष 2.2.12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शालाग्रे वलभी या स्यात् अलिन्देति वदन्ति ताम्।[1]

वास्तुसौख्य में शालाभित्ति से बाहर जाने का मार्ग को अलिन्द कहा गया है–

अलिन्द शब्देन शाला भित्तेर्बाह्ये या गमनिका
दृगाङ्गणम् सम्मुखी क्रियते सा ज्ञेयेत्युत्पलः।।[2]

इस प्रकार गन्थों में अलिन्द के लिए वलभी, मूषा, भद्र, परिसर, भ्रम, प्रतिशाल, प्रघाण, प्रछण, रवण, रवणजक, तथा तिन्दुक आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। समराङ्गाण सूत्रधार में ही कहा है–

अलिन्दा इति केऽप्याहुर्मूषा इत्यपरे विदुः।
भद्रा इति जगः केचिऽन्ये परिसरा इति।।
एकाद्वित्रिचतुः पञ्चषट् सप्ताष्ट क्रमेण याः।
मूषा स्तासाम् प्रवहणा संज्ञाः स्युर्वेश्मनामिह।।[3]

राजवल्लभमण्डन[4] में कहा है– **"वक्ष्यामलिन्दः रवणको लघुश्च द्वौ तिन्दुकाख्यौ कथितावलिन्दौ"** अलिन्द (वरामदे) के मान का निर्धारण भी एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जिसके बारे में रामराङ्गण[5] सूत्रधार का कथन है– **"शालाव्यासार्धतोऽलिन्दः सर्वेषामपि वेश्मनाम्"** अर्थात् शाला के व्यास का आधा अलिन्द सभी गृहों में रखना चाहिए। इस सन्दर्भ में आचार्य वराह मिहिर ने कहा है–

सेनापति नृपहीनाम् सप्तति सहिते द्विधा कृते व्यासे।
शाला चतुर्दशहृते पञ्चत्रिंशद्हृतेऽलिन्दः।।[6]

अर्थात् सेनापति नृपति के अपने अपने शालामान के अलिन्द प्रमाण ज्ञात करने के लिए गृह के व्यासमान के योग में 70 जोड़कर उसके दो भाग करने चाहिए। एक भाग में 14 से भाग देने पर शाला का मान ओर दूसरे भाग में 35 से भाग देने पर अलिन्द का मान प्राप्त होता है।

वास्तुसौख्य[7] में 35 के स्थान पर 15 से भाग देकर अलिन्द का मान ज्ञात करने का भी

---

1. समराङ्गण सूत्रधार 18-23
2. वास्तुसौख्यम्
3. समराङ्डाण सूत्रधार 18/32-33
4. राजवल्लभ मण्डन 7-1
5. समराङ्गण सूत्रधार 19-22
6. बृहत्संहिता 53-17
7. वास्तु सौख्यम्। 200

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्देश है अर्थात् पञ्चत्रिंशत् के स्थान पर पञ्चदश पाठ मिलता है यथा–**'शाला चतुर्दश हते पञ्चदशे धृतोऽलिन्दः॥'**

राजवल्लभमण्डन[1] में एक अन्य मत का भी वर्णन है–जिसके अनुसार यदि शाला का मान 5 भाग हो तो अलिन्द का मान 2 भाग तथा शाला का मान 7 होने पर 3 भाग का अलिन्द तथा 9 भाग की शाला में 4 भाग अलिन्द होना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य तौर पर एक शाल भवन भूखण्ड के पश्चिमी या दक्षिणी भाग मे बनाना श्रेष्ठ है। पूर्व और उत्तर खुला होना चाहिए।

द्विशालभवन के निर्माण में एक भाग पश्चिम में और दूसरा भाग दक्षिण में बनाना सर्वश्रेष्ठ होता है। वराहमिहिर ने ऐसे भवन को **'सिद्धार्थ द्विशाल"** कहा है। जो सभी प्रयोजनो को सिद्ध करने वाला कहा है। अशुभ द्विशाल भवनों में पूर्व व उत्तर में शाला निर्माण अथवा उत्तर पश्चिम में शाला निर्माण कर क्रमशः दक्षिण पश्चिम या दक्षिण पूर्व में स्थान छोडना अशुभ हैं। जिनकी संज्ञा क्रमशः **दण्ड द्विशाल** तथा **सूर्य द्विशाल** है। जो कि परिणामतः क्रमशः धन हानि अकाल मृत्यु तथा कष्ट कारक फल करता है। इसी प्रकार पूर्व दक्षिण में निर्मित द्विशाल भवन वात द्विशाल तथा उत्तर और दक्षिण में निर्मित द्विशाल काच द्विशाल कहलाता है जो कि क्लेश बाधा एवम् बन्धुद्वेष परिवार कष्ट कारक है। इस ही प्रकार पूर्व और पश्चिम में निर्मित द्विशाल गृहचुल्ली द्विशाल कहलाता है जो कि उत्तर दक्षिण में खुले स्थान के कारण धन हानि और सन्ताप कारक है।

त्रिशाल भवन में शुभ एवम् अशुभ भवनों का विवेचन करते हुए भारतीय वास्तुशास्त्र[2] में कहा है– उत्तर ईशान में खुला स्थान-छोड़कर पूर्व पश्चिम और दक्षिण में निर्मित त्रिशाल भवनं **हिरण्य त्रिशाल** शुभ है। ईशान पूर्व में खुला स्थान छोड़कर शेष उत्तर पश्चिम और दक्षिण में निर्मित त्रिशाल भवन **सुक्षेत्र त्रिशाल** कहलाता है। जो कि शुभ है। इस प्रकार क्रमशः दक्षिण में तथा पश्चिम में खुला स्थान छोड़कर बाकी तीन दिशाओं में निर्मित त्रिशाल क्रमशः **चुल्ली त्रिशाल** और **पक्षघ्न त्रिशाल** कहलाते हैं जो कि **अशुभ त्रिशाल** है। इनमें धनहानि शत्रुवृद्धि और सन्तान को कष्ट होता है तथा दरिद्रता एवम् क्लेश का सामना भी करना पड़ता है।

चतुः शाल विधान का विचार–

आचार्य वराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता में वास्तु शास्त्र से सम्बन्धित एक अध्याय 'वास्तुविद्याध्याय' नाम से लिखा गया है जिसमें शालविधान का विचार एकशाल से प्रारम्भ न करके सर्वप्रथम सर्वतोभद्र आदि पांच चतुशालों का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है।

---

1. शालालिन्द उदाद्वातो हि विबुधै र्वाणेषु यग्मांथकः।
   सप्तांशेषु गुणेशेच नन्दपदतो वेदांथ तुल्यस्तथा॥ –राजवल्लभ मण्डन 6-20
2. भारतीय वास्तुशास्त्र पृ. 97-98 प्रो शुकदेव चतुर्वेदी

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सर्वतोभद्र चतुश्शाल लक्षण–

अप्रतिसिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम्।
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि।।[1]

जिस चतुश्शाल वास्तु में चारों तरफ अलिन्द हो उसको सर्वतोभद्र वास्तु कहा गया है। इस वास्तु में चारों दिशाओं में चार द्वार होने चाहिए। इसका निर्माण राजा और देवालय के लिए किया जाता हैं। आचार्य गर्ग ने भी इस विषय में अलिन्द का निर्माण व्यवच्छेद रहित होना चाहिए। ऐसा स्पष्ट कहा है–

अलिन्दानां व्यवच्छेदो नास्ति यत्र समन्ततः।
तद्वास्तु सर्वतोभद्रं चतुर्द्वारसमायुतम्।।[2]

नन्द्यावर्त चतुश्शाल लक्षण–

नन्द्यावर्तमलिन्दैः शालाकुड्यात् प्रदक्षिणान्तगतैः
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि।।[3]

जिस चतुश्शाल वास्तु में शाला की भित्ति से प्रारम्भ करके प्रदाक्षिण क्रम से अलिन्द का निर्माण किया जाए तथा पश्चिम दिशा को छोड़कर अन्य तीन दिशाओं में द्वार हो उसको नन्द्यावर्त वास्तु कहते हैं। शालाकुड्य को स्पष्ट रूप से शालाभित्ति कहते हुए आचार्य गर्ग का भी वचन हैं–

प्रदक्षिणां गतेः सर्वैः शालाभितेरलिन्दकैः।
विना परेण द्वारेण नन्द्यावर्तमिति स्मृतम्।।[4]

इस प्रकार आचार्य वराहमिहिर ने वर्धमान, स्वस्तिक, रुचक चतुश्शालों का विस्तार से वर्णन किया है।।

वास्तुशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में **एकशाल** गृह के 104 भेद, 16 ध्रुवधान्यादि, गृहों के आधार पर प्रतिपादित हैं।

द्विशाल गृह के सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड, वात, चुल्ली अैर काच इन 6 भेदों करिणी, महिषी, गावी एवं छागी, इन 4 शालाओं के अनुसार 52 गृह के प्रकार वर्णित हैं।।

त्रिशाल गृहों के हिरण्य, चुल्ली, सुक्षेत्र और पक्षघ्न इन चार भेदों के आधार पर 72 भेद वर्णित हैं।

---

1. बृहत्संहिता वास्तुम्यिद्याध्याय द्रोक. 31
2. वहीं विमला टीका
3. वृहत्संहिता वास्तुयिद्याध्याय लो. 32.
4. वहीं विमता टीका

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चतुशाल गृहों के विभद्र, एकभद्र, द्विभद्र, त्रिभद्र चतुर्भद्र, तथा पञ्चभद्र से अष्टभद्र पर्यन्त और सर्वतोभद्र नन्धावर्त आदि के अनुसार 256 भेदों का वर्णन वास्तुग्रन्थों मे मिलता है।। पञ्चशाल से दशशाल पर्यन्त अनेक शालायोजनाओं की कल्पना अनेक वास्तुग्रन्थों में प्राप्त होती है। मूलतः एकशाल से चतुशाल पर्यन्त गृहनिर्माण का आधार ही अनेक प्रकार के शालविधान अलिन्द, अपवर्ग, षड्दारुक आदि के संयोजन से अनन्त शाल प्रभेदों का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप हमारे सम्मुख विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध है।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहासन्न रोपणीय वृक्ष एवं वनस्पति

–प्रो० सचिदानन्द मिश्र

बृहत्संहिता में पूर्व ऋषि-महर्षियों, मुनियों एवं ज्योतिर्विज्ञानियों के सिद्ध निष्कर्ष, वर्तमान कालिक क्षमतानुरोध से त्रिस्कन्ध ज्योतिष के अभिप्राय से, त्रिगोलीय पिण्डाण्डों के दृश्यादृश्य प्रभाव, भूगोलीय चराचर मात्र पर, दिग्देशकाल तथा पात्र भेद से भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान के अतिशुभ, शुभ, सामान्य, अशुभ तथा अति-अशुभ क्रम से, किस तरह, दशा, गोचर, तथा अष्टवर्ग की निष्पत्ति से, जातक मूल प्रकृत्यानुरोध से, आधान से निर्वाण तक के सन्दर्भ कैसे -2 घटनाचक्र व विभिन्न-अवस्थाओं से गुजरते हैं, इनका समसामयिक एवं पूर्व प्रयोगाश्रित निष्कर्षों का अद्वितीय संकलन कर्ता एवं समीक्षक वराह की जितनी प्रसंशा की जाए वह कम है। भूपृष्ठस्थित दिग्देश काल एवं पात्र की सापेक्षता एवं निष्पत्ति निर्धारक त्रिस्कन्ध विधान गणित मूल से गोलादि गम्य है। त्रिगोलीय प्रभाव वनस्पति, जीव, जन्तु प्रभृति को कैसे प्रभावित करते हैं? उन्हें कैसे निर्धरित करें? एतदर्थ स्पष्ट संकेत होने पर भी, प्रचीन वनस्पति, एवं जीवादि विज्ञान की प्रयोग परम्परा अवरुद्ध प्राय है। उन्हें फिर से गतिशील किया जा सकता है।[1]

अन्यों के साथ वनस्पति, पेड़ पौधे गाछ-वृक्ष, झाड़ी, लता पादप, सस्य, तृण, कन्द-मूल, फूल, फल, शाक सब्जी, प्रभृति जलज एवं स्थलज समस्त जात मात्र को भी त्रिगुण एवं पञ्चभूताश्रय से दिव्यप्रभाव का निरुपण ग्रहर्क्ष एवं केतुओं के प्रभाव के रूप में आदित्यचार से ग्रहश्रृंगाटक तक स्पष्ट संकेतित करता है। दिव्य सापेक्ष नाभस का प्रभाव वनस्पत्यादि पर अधिक पड़ता है। वृष्टिविद्या, जल तथा समुद्रविज्ञान तथा भूकम्प का निरुपण नभ एवं भौमनिष्पत्तिक त्रिगोलीय प्रभाव का द्योतक है। जल से भूपृष्ठस्थ जात मात्र का जीवन सम्बद्ध होना तथा सर्वविध शुद्धिपर जोर देना आज भी अनुकरणीय हैं।[2]

शस्यजातकविधान में भौम सापेक्ष ऋतुचक्र का सौरमण्डल सम्बद्ध नक्षत्र सापेक्ष भूगोलाभिप्रायिक संवत्सर गत प्रभाव निर्धारण में वृश्चिक तथा वृष गत सूर्य एवं गृहर्क्षादि के प्रभाव तथा सुभिक्ष तथा दुर्भिक्ष का यथार्थ विधान होना प्राचीनो के वैशिट्य को दर्शाता है। द्रव्य निश्चय में सूर्यस्थ राशि विशेष में उत्पन्न वनस्पतियों तथा वृक्षादि को तद् तद् राशि ग्रह तथा केतूदय काल में केतुओं से जोड़नें के खगोलीय विधान भी संकेतित हैं। यहाँ भी राशि तथा नक्षत्र मूल हैं तथा सूर्यादि उत्पत्ति

---

1. बृहद्वास्तुमाला- 1/4
2. बृहत्संहिता, दकार्गलाध्याय, श्लोक. 1-2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवं परिवर्तन के कारण। किस स्थिति विशेष में किस पदार्थ एवं वनस्पत्यादि की वृद्धि एवं किसका क्षय होना है, उन्हें भी निर्धारित करनें से स्पष्ट संकेत मिलते हैं।[3]

राशि बलवान होनें पर गोचर के कष्टप्रद होनें पर भी शुभग्रह योग एवं दृष्टि से कष्टद नहीं होते, वहाँ पापग्रह योग एवं दृष्टि से मानव की तरह स्व-2 तत्व गत संरचना भेद से वनस्पत्यादि भी ह्रास तथा विनाश को प्राप्त होते हैं। अर्घकाण्ड में सुभिक्ष दुर्भिक्ष संभूत वनस्पत्यादि के क्षय वृद्धि एवं मांग तथा आपूर्ति की सापेक्षता से त्रिगोलीय प्रभाव निष्पत्ति से मूल्य निर्धारित करना अर्थ एवं व्यवहार से इस भाग को जोड़ता है। इन्द्रध्वज विधान शान्ति साधक राज्य को निरुपद्रव बनानें का विधान भी भोजराज तक व्यवहार में था। निराजन एवं अभिषेक से दैवी प्रसन्नता से दुष्प्रभाव शमन तक का संकेत करता है। पञ्चभूताश्रय से त्रिगोलीय शुभाशुभ उत्पात ज्ञापक विधान सलक्षण एवं सप्रभाव वर्णित हैं। मयूर चित्रक में त्रिगोलीय प्रभाव के सभी रूप निष्कर्षतः प्राप्त होते हैं। अंगविद्यादि साक्षात मानव सम्बद्ध हैं।[4]

त्रिगोलीय प्रभाव निर्धारणोंपरान्त यदि वास्तु प्रभाव निर्धारित हो तो सभी प्रभाव मात्र त्रिकाल संभूत युगीय क्षमता भेद से प्रकट होनें के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। वास्तु विद्या का विस्तार भी त्रिगोलीय प्रभाव को वास्तुभूमि एवं वास्तुकर्त्ता के आनुकूल्ता से निर्धारित कर ग्रामवासिद प्रवेशान्त विचारित होते हैं। भूमि परीक्षण से गृहपिण्ड, गृहमानचित्र, निर्माण तकनिकी, गृहारम्भ एवं प्रवेश आदि सभी विषय तदन्तर्भुक्त हो जाते हैं।[5]

गृह में जलीय व्यवस्था, प्रकाश एवं अन्धकार, हवा की दिशा प्रवेश एवं निर्गमन, गृह के चारों ओर वृक्ष पादप लता शस्य तृण फल मूलादि विषय का विचार एवं वातावरणादि का मानव की विभिन्न प्रकृति भेद पर पड़नें वाले प्रभावों का भी अलग-अलग स्वतन्त्रविद्याशाखा भेद हो जानें पर भी ये मानव जीवन मूल से वास्तु के सम्बद्ध अंग हैं। वराह ने नृपादि सामान्य जन तक का विचार मानवीय सर्वाङ्गीण विकास रक्षण पोषण एवं विकास मूल से जोड़कर समस्त वास्तु विधान इस अध्याय में दर्शाया है। गृह के वात आवरण शीत ताप स्व क्षेत्रीय निष्पत्ति से गृह के चारो ओर फैले शुभाशुभ प्रभावोत्पादक वृक्ष एवं वातावरण पर भी निर्भर करते हैं। गृह में प्रयोज्य एवं त्याज्यकाष्ठ, स्तम्भप्रमाण, लम्बाई, चौड़ाई, ऊचाई, प्रांगण, वरामदा आदि के साथ वृक्षादि के प्रभाव ग्राहकत्व निष्पत्ति एवं सापेक्षता से शुभाशुभ प्रभावोत्पादक वृक्षादि के रोपनें का विधान, उनके औषधीय प्रभाव तथा आहार विहार सम्बद्धता की दृष्टि को ध्यान में रखकर किया जाना नवीन अन्वेषण से भी क्रमशः एक-एक की निष्पत्ति से सिद्ध होते जा रहे हैं। ज्योतिष, योग तन्त्र, आयुर्वेद, वनस्पति एवं जीव विज्ञान के समबेत शिक्षण एवं प्रयोग से इस अत्याधुनिक युग में प्रदूषण से प्रदूषण मुक्ति की ओर बढनें तथा वनादि के संरक्षण से भूमि, जल, वायु, अग्नि, तथा आकाश को

3. बृहत्संहिता, सस्थजातकाध्याय, श्लोक 1-14,
4. बृहत्संहिता, अर्धकाण्डाध्याय श्लो 1-2 इन्द्रध्वजसम्पदध्याय श्लोक 9-10, नीराजनाध्याय श्लोक 6, मयूरचित्राध्याय श्लोक- 7
5. बृहद्वास्तुमाला, गृहारम्भाविधिः

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रदूषणमुक्त करने में प्राचीन दिव्यनिष्कर्षो के आलोक में हमें सही दिशा मिलेगी। वाटिका, वन, वनस्पति, वनौषधि, आदि के साथ गृह के चारों ओर लगानें वाले वृक्षों के विधान ऋग्वेदादि से प्रारम्भ कर बृहद्दैवज्ञरंजन तक प्रचीन क्रम में तथा वनस्पति विज्ञान का नवीन क्रम विभिन्न कालिक विकास भेद को भी दर्शाता है। ईशा पूर्व 3000 के अन्वेषण पर आधारित कृषिपराशर, एवं समन्त्र वनविज्ञान विधायक वनविनोद आदि ग्रन्थ तथा काश्यप, पृथु, विश्वामित्र, गर्ग, पराशर, तथा वास्तु के 18 ऋषि प्रवर्त्तक इस के दीर्घ कालक्रम एवं उत्तम वैज्ञानिक परम्परा का संकेत देते हैं।[6]

गृह के पास किस प्रकार के वृक्ष को लगावें तथा दिशा भेद से किस प्रकार का वृक्ष कहाँ शुभ तथा कहाँ अशुभ होते हैं? इसका स्पष्ट विधान गर्ग, पराशर, वराह आदि के ग्रन्थ प्रमाण से ज्ञात होते हैं। वास्तुभूमि में अवस्थित वृक्ष के आधार पर शल्यपरीक्षण एवं भूमि का शुभ एवं अशुभ निर्धारित करने के संकेत भी प्राप्त होते हैं। पाकड़, वट, गूलर, तथा पीपल के वृक्ष प्रदक्षिण क्रम से दक्षिण आदि दिशाओं में अशुभ तथा उत्तरादि दिशाओं में शुण

उत्तर में पाकड़, पूर्व ये वट, दक्षिण में गूलर, तथा पश्चिम में पीपल होना अशुभप्रद कहा है। इतना ध्यान फिर भी रखना जरुरी है कि किसी भी ऐसे वृक्ष को घर के पास नहीं लगाना चाहिए, जिसकी छाया सूर्योदय के तीन घन्टे के बाद भी घर पर पड़ती हो।[7] घर के पास काँटेदार वृक्ष शत्रु एवं रोगभय, सदुग्ध-धननाश, सफलवृक्ष-सन्ताननाश तथा पीड़ाकारक होते हैं। इनके भौतिक एवं रसायनिक प्रभावों की मानव प्रभावाभिप्रायिक परीक्षण फिर से जरुरी हैं। इनके काष्ठ भी घर में नहीं लगाना चाहिए। यदि इस प्रकार के वृक्ष हों तो उन्हें काटकर उनकी जगह अशोक, अरिष्ट, बकुल, कटहल, शमी तथा शाल आदि को लगाने से शुभ प्रभाव होता है।[8] विभिन्न फूल आदि के द्वारा भी भूमि के शुभ तथा अशुभ भेद निश्चित किए जाते हैं।[9] गृह बनाने हेतु काटने योग्य वृक्ष, वृक्ष काटने का विधान, गिरनें का प्रभाव, आदि विषय भी **वास्तुविद्याध्याय** में निरुपित किया गया है। **कुसुमलताध्याय** में विभिन्न वनस्पति के वृद्धि एवं ह्रास से विभिन्न जीवजन्तु एवं वनस्पति की वृद्धि तथा सुभिक्ष दुर्भिक्ष आदि का ज्ञान भी संकेतित है।[9] **जलज्ञापक विधान** के अन्तर्गत वापी आदि के तट पर निचुल, जामुन, बेंत, नीप (एक प्रकार का कदम्ब) आदि के साथ अर्जुन, वट, आम, पाकड़, कदम्ब, के साथ-साथ पिलखन, बकुल, कुरवक तार, अशोक, महुआ तथा नकुल आदि वृक्षों को लगावें।[10]

---

6. ज्योतिषशास्त्रस्येतिहास, आचार्यलोकमाणिदाहाल, पृष्ठ- 9
7. बृहद्वास्तुमाला, ग्राह्यग्रह्यवृक्षविचारः, श्लोक- 12, पृष्ठ- 114
8. बृहद्वास्तुमाला, वाटिकादिरोपणाविचारः, श्लोक- 17-20, पृष्ठ- 115
9. बृहत्संहिता; कुसुमलताध्याय श्लोक 1-14
10. बृहद्वास्तुमाला, वारिकादिरोपकविचार, श्लोक 28-32, पृष्ठ- 117

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वृक्षायुर्वेद में जलाशय, वापी, नदी आदि के तट पर तथा गाँव के समीप कोमल भूमि में बाग लगाने का संकेत है। बाग लगाने से पूर्व तिल का वापन करें। तिल पुष्पित होनें पर उसे भूमि में मर्दित कर मिला दे। घर के समीप या दूर अशोक, पुन्नाग, शिरीष, प्रियंगु (कौनी) आदि को प्रथमतः लगावे।[11]

कटहल, केला, जामुन, बड़हड़, अनार, दाख, पालीवत्, बिजौरा अतिमुक्तक, इन वक्षों की शाखाओं को गोबर से लिम्पित कर विजातीय वृक्षों का मूल या शाखा को शाखा पर लगाकर कलम लगाना चाहिए। जब मूल अजात शाखा हो जाए तब कलमी से भिन्न वृक्षों को शिशिर (माघ-फाल्गुन) ऋतु में, कलमी वृक्षो को हेमन्त (अगहन-पौष) में तथा लम्बे मूल के वृक्षों को वर्षा (श्रावण-भाद्र) में लगाना चाहिए।[12]

वृक्ष रोपनें का नियम–

घृत, खस, तिल, शहद, दूध, गोबर, नीम की खल्ली, इन सबको पीसकर मूलभाग में लेपकर बोयें हुए या कलमीकृत वृक्षों को एक स्थान से लेकर बाग में लगावें। इस प्रकार विधि विधान से पवित्रता पूर्वक वृक्ष रोपनें से विना सुखे वृक्ष हरे पत्र सहित लग जाते हैं। लगाये हुए वृक्षों को ग्रीष्मकाल प्रायः–सायं, शीतकाल में एकदिन छोड़कर तथा वर्षाकाल में भूमि सुखनें पर सींचने करने का विधान है।[13]

बहुत जल वाले स्थान में होने वाले वृक्ष–

जामुन, बेत, वानीर (एक प्रकार का बेंत) कदम्ब, गूलर, अर्जुन, विजौरा, दाख बड़हड़, दाड़िम (अनार) बञ्जुल (तेदुआ. तिनिस) नक्तमाल (करंज) तिलक, कटहल, तिमिर, अंबाड़ा ये वृक्ष अनूप (बहुत जल वाले देश) में होते हैं।[14] बड़े वृक्षों में परस्पर दूरी 20 हाथ, उत्तम, 16 हाथ मध्यम, तथा 12 हाथ अधम होती है। वाग में पूर्ण विकासावस्था में वृक्ष की शाखा परस्पर स्पर्श न करे तथा मूल प्रसरित जड़ें एक दूसरे से न जुड़े यह ध्यान रखना चाहिए। विद्ध मूल वृक्ष पीड़ित होने से अच्छी तरह फल नहीं देते।[15] अधिक शीतल वायु, तेज गर्मी, वृक्ष मूल में बहुत दिनों तक पानी से वृक्ष में रोग होते हैं। पत्रों का पीला होना, अंकुरित नहीं होना, कलियों का सुखना, रस टपकना, या सुखना, ये सब रोग के कारण होते हैं।[16]

---

11. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 2-3, पृष्ठ- 153
12. बृहद्वास्तुमाला वृक्षायुर्वेदप्रवरणम, श्लोक- 4-5 पृष्ठ- 153
13. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 19-21
14. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 10-11
15. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 12
16. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वृक्षों की चिकित्सा–

विकृत तथा सुखे ड़ाल को काट कर घृत, नीम की खल्ली तथा पङ्क (कीचड़) को मिलाकर वृक्षों में तथा कटे भाग पर लेपन तथा दूध मिश्रित जल से सेचन, कीटोपद्रब होने पर नीम की खल्ली तथा यथोपलब्ध प्राकृतिक कीटनाशक युक्त जल से सिंचन करना चाहिए।[17]

वृक्षों में समय पर फल न लगे, तो कुल्थी, उरद, मूँग, तिल, जौ इन सब को दूध में औटे। (ठण्डा)होने पर उससे प्रभावित वृक्षमूल का सेचन करें। यह फल एवं फूल का उत्पादक एवं वृद्धि कारक प्रयोग हैं।[18]

यदि मिट्टी में उर्वरता की कमी से वृक्षों का बढना रुक जाता है या कम हो जाता है उस समय प्राकृतिक उर्वरक प्रयोग से सही -2 विकास होता है। वराह के समय भेड़, बकरी आदि का मेंगन का चूर्ण 10 सेर, तिल 5 सेर, सत्तू 1 सेर, जल 1 द्रोण, भेड़ आदि का मांस 1/4 सेर, इन सब को मिलाकर एक पात्र में 7 रात तक रखे। उससे वृक्ष मूल के सेचन से पादप, गुल्म, लतादि के सेचन से ठीक-ठीक विकास होता है।[19]

बीज वपन का चमत्कारी प्रकार

किसी वृक्ष के बीज को घी में भावित करें। तत्पश्चात उसे दूध में डाल दें। इस प्रकार दश दिन तक करते रहे। घृत भावित को हाथ से चुपड़ कर दूध में डालना चाहिए। तत्पश्चात् उसको गोबर से अनेक बार मल कर रुखा करके सूकर और हिरण के मांस में धूपित कर, सूकर के मांस और चर्बी सहित उस बीज को तिल बोयें हुए शुद्ध भूमि में लगाकर दुग्धमिश्रित जल से सेचन करने पर फूल युत वृक्ष उत्पन होता है।

आजकल हरिण आदि की संख्या क्षीण हो जाने से मारना अपराध है। मैंने पूर्व विधानप्राप्त होनें से मात्र दर्शाया है।[20] सड़े हुए मांस से युत धान उरद, तिल का चूर्ण, सत्तू इससे सेचन कर हल्दी का धूप देने से अतिकठोर **इमली** का बीज भी शीघ्र अंगुरित हो जाता है। **कपित्थ** के बीज के शीघ्र अंकुरण के लिए विष्णुक्रान्ता, आंवला, धव, वसा, इनकी जड़ तथा पत्तों से युत वेंत और सूर्यमुखी, निसोत, अतिमुश्कक, (तेंदुआ-तिनिस) इनकी जड़ इन आठमूलों को दूध में डाल कर औंटनें के बाद ठंड़ा होने पर उसमें कैथ का बीज को डाल दें। 100 बार ताली बजानें से जितना समय लगे (लगभग 2 मिनट) उतनें समय तक दूध में,[21] उतनें समय तक उपर्युक्त दूध में बीज को रखकर निकाले तथा धूप में सुखा दे। इस तरह 1 मास तक करता रहे। तत्पश्चात बीज को निर्दिष्ट भूमि में लगा दें। लगानें के समय 1 हाथ लम्बा 1 हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा गढ़ढ़ा

---

17. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः श्लोक- 15
18. बृहत्संहिता, वृक्षायुर्वेदाध्यायः श्लोक- 16
19. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 17-18
20. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 19-20
21. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 22-23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खोदकर उसे पूर्व कथित रीति से दूध मिश्रित जल से गढ़ढ़े को पूर्ण करें। जब दूध मिश्रित जल सूख जाए तब गढे में अग्नि प्रज्वलित कर जला दे। तत्पश्चात शहद तथा घी से युत भस्म से गढे को लीप दे। फिर मिट्टीयुत उड़द, तिल, तथा जौ के चूर्ण से गढ़ढ़े को भरकर मछली तथा मांस युत जल से उसको तब तक ठोके जब तक भूमि कठिन न हो जाए। तत्पश्चात् 4 अंगुल भूमि के नीचे पूर्व कथित कैथर के बीज को रोपित कर मछली तथा मांस युत जल से सेचन करनें पर शीघ्र सुन्दर पत्तों से युत वाटिका मण्डप को आच्छादित करने वाली बल्ली उत्पन्न होती हैं।[22]

अन्य वृक्षों को लगानें का प्रकार

अङ्कोल वृक्ष के फल के कल्क या तेल से अथवा श्लेष्मामातक (लसोड़ा-लसफसिया) के फल, कल्क या तेनल से सौबार भावना देकर ओलों से भिनी हुई मिट्टी में जिस बीज को वपन किया जाता है, वह उसी समय अंकुरित हो जाता है। इस प्रकार वपीत सदा फल फूल आदि से युक्त रहते हैं, इसमें संदेह नहीं। यह प्रयोग वराह अनुभूत है। आज फिर से परीक्षण करना असंभव नहीं है। छिलका उतारे हुए लसोड़े के बीज को अङ्कोल फल के भीतर के जल से भावना देकर छाया में सुखाता जाए। इस प्रकार सातबार करना चाहिए। इसके बाद उसे भैंस के गोबर से घिस कर, भैंस के सुखे गोबर के ढेंर पर रख दे। बाद में ओलों से भींगी हुई मिट्टी में उन बीजों को बोवें, तो एक दिन में फल युत पौधा लग जाता है। इस युग में यह कितना प्रमाणित होगा, प्रयोग हीं प्रमाण है।[23]

वृक्ष रोपनें का मुहूर्त–

तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशिरा, रेवती, चित्रा अनुराधा, मूल, विशाखा, पुष्य, श्रवण, अश्विनी, हस्त, नक्षत्र वृक्ष रोपण में उत्तम कहे गए हैं। इस प्रकार वृक्षायुर्वेद में बीजवपन से वृक्ष लगानें तथा चमत्कार प्रदर्शन भी प्राप्त होता है। अधिक विधान कृषि पराशर, उपवन विनोद आदि ग्रन्थों से तथा प्राचीन वाङ्मय से जाने।[24]

वराह नें गृह तथा प्रतिमा के लिए काष्ठ चयन के लिए **वनसंप्रवेश** का विधान दर्शाया है। यात्रामुहूर्त्त में शुभ शकुन को देखकर ग्राह्य अग्राह्य काष्ठ का विचार कर वर्णानुरोध से विधि वत् पूजनपूर्वक काष्ठ का आहरण करना चाहिए। काश्यप, गर्ग पराशर, अनवमदर्शी भद्रबाहु, वराह, उत्पल, बल्लालसेन, माधव, रामदीन आदि तथा नवीन कालखण्ड में प. जीवनाथ झा के अनेंक प्रमाणिक ग्रन्थ वास्तु के अन्य विचारणीय विषयों के साथ-साथ वास्तु में गृह के समीप रोपणीय वृक्षों का भी विस्तार से विचार किया है।

---

22. तत्रैव, श्लोक 24-26
23. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 27-28
24. वृहद्वास्तुमाला, वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्, श्लोक 31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भूकम्प एवं भूकम्परोधी भवन

–प्रो. गणेश भारद्वाज

चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्सलोकश्च भवेद् ध्रुवम्।
शिल्पशास्त्रपरिज्ञानं मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत्।।[१]

वास्तुशास्त्र के ज्ञान और तदनुरूप आचरण से चतुर्वर्गफलप्राप्ति के साथ मनुष्य की देवत्वप्राप्ति भी सुलभ है। पृथ्वी के दोनों ध्रुवों किंचित् मध्य में चुम्बकीय बल रेखाएँ हैं, जो मानव शरीर पर स्पष्ट प्रभाव डालती हैं, भूगोल, खगोल और पञ्चमहाभूतों की नैसर्गिक ऊर्जाओं का तन और मन पर बड़ा ही सूक्ष्म प्रभाव होता है इन्हीं सब प्रभावों को पहचान कर उनके साथ समरसता एवं आनुपातिक व्यवस्थापन का नाम ही स्थापत्यवेद या वास्तुशास्त्र है, मानव के लिए शरीर, मन और बुद्धि तीनों की अनुकूलता अनिवार्य है, यदि भवन अव्यक्त ऊर्जाओं को ध्यान में रखकर बनाया जायेगा तो शरीर स्वस्थ, मन स्थिर और बुद्धि निर्मल होगी और मनुष्य सृष्टि के अनुकूल पथ का अनुसरण करेगा। किन्तु इस समय सम्पूर्ण विश्व अतर्पणीय लालसाओं और वासनाओं की तृप्ति में संलग्न है। विज्ञान के नाम पर प्रकृति के नैसर्गिक नियमों से छेड़छाड़ की जा रही है फलस्वरूप भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि और आतंकवाद जैसे प्राकृतिक प्रकोप मानव जीवन को संत्रास दे रहे हैं, भूगर्भशास्त्रियों का स्पष्ट कथन है कि भारत का लगभग 54 प्रतिशत भाग उच्च जोखिम वाले भूकम्पीय क्षेत्र में आता है और देश के करीब 600 जिलों में से लगभग 200 जिले प्राकृतिक आपदाओं की दृष्टि से खतरनाक क्षेत्र में आते हैं, इस दृष्टि से भवन निर्माण के मानकों को अनिवार्य बनाना आवश्यक है।

भूकम्प– यह स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्र और ज्योतिष का अन्योऽन्याश्रित सम्बन्ध है, अतः भूकम्प के सम्बन्ध में वास्तुशास्त्र और ज्योतिषीय प्रभाव पर साथ-साथ विचार किया जाना चाहिए। भूकम्प के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक कारणों की चर्चा की है।

भूकम्प के मुख्य कारण–

पशुवध– दिल्ली विश्वविद्यालय के तीन विज्ञानियों डॉ. मदन मोहन, डॉ. इब्राहिम तथा डॉ. विजयराज सिंह ने मिलकर एक थ्योरी प्रस्थापित की है– 'विस थ्योरी ऑफ अर्थक्वेक्स' इसके

१. विश्वकर्मा वा. प्र. २।३०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अनुसार पशुओं को काटते समय उनके आर्तनाद से जो 'आईंस्टीन पेन व्हेवज् (E.P.W.) निकलती हैं उनकी ऊर्जा प्रति पशु 1140 मेगावाट से अधिक होती है। यह ऊर्जा एकत्रित होती रहती है जिसके बढ़ते प्रभाव के कारण भूकम्प आते हैं। डॉ. इब्राहिम ने मार्मिक शब्दों में कहा है कि 'धरती माता अपने स्वरूप एंव गाय की क्रूर हत्या देखकर क्रन्दन करती है, काँप उठती है'। इसके अतिरिक्त प्लेट विवर्तन थ्योरी, ज्वालामुखीय कारण, बड़े बाँधों का निर्माण आदि कारण भी गिनाये जाते हैं।[१]

आचार्य वाराह मिहिर ने 'बृहत्संहिता' के भूकम्प लक्षणाध्याय में भूकम्प के चार विभिन्न मण्डलों का विचार किया है– वायव्य मण्डल, इन्द्र मण्डल (ईशान्य), वरुण (नैऋत्य) मण्डल तथा आग्नेय मण्डल।

प्रत्येक मण्डल में सात-सात नक्षत्र हैं तथा उनके प्रभाव भी वर्णित किये गये हैं। उदाहरणार्थ– **वायव्य मण्डल** में उत्तरा फाल्गुनी, हस्त और चित्रादि सात नक्षत्रों का समावेश है तथा इन नक्षत्रों में भूकम्प आने पर धूल भरी आँधी चलने और वनौषधियों के विनाश तथा मनुष्यों में उन्माद, कफादि रोगों की वृद्धि बतायी गयी है। **इन्द्र मण्डल** में अभिजित, श्रवण तथा धनिष्ठादि सात नक्षत्रों को सम्मिलित किया गया है तथा इनमें भूकम्प आने पर मेघ वर्षा और अतिसारादि रोगों के प्रकोपों का उल्लेख है। **आग्नेय मण्डल** में पुष्प, कृत्तिका तथा विशाखादि सात नक्षत्रों की गणना की गयी है। आग्नेय भूकम्प में मेघ और जलाशयों के नाश, अग्नि दुर्घटनाओं तथा ज्वर व पाण्डु रोगों की वृद्धि का वर्णन है। **वरुण मण्डल** में रेवती, पूर्वाषाढ़, आर्द्रा आदि सात नक्षत्रों का समावेश है तथा इस मण्डल के भूकम्प में अतिवृष्टि, समुद्र तथा नदी के किनारे रहने वालों की भयंकर क्षति का उल्लेख किया है।[२] विस्तार के लिए बृहत्संहिता का भूकम्पाध्याय द्रष्टव्य है।

इसी आधार पर 1997 में जबलपुर में आये भूकम्प का विवेचन करते हुये प्रसिद्ध वास्तुविद गणेशताम्रकर ने लिखा है कि भूकम्प का केन्द्र जबलपुर से 25 कि.मी. दूर आग्नेय (कोण) दिशा में ही था और यह विशाखा नक्षत्र भी आग्नेय मण्डल का ही है।

जबलपुर में आये इस भूकम्प का वास्तुशास्त्रीय संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रख्यात आर्किटेक्ट डॉ. संजय महाशब्दे ने प्रस्तुत किया है[३]

इस सर्वेक्षण के कतिपय परिणाम बिन्दु इस प्रकार हैं–

- जिन भवनों के प्रवेश द्वारा आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्यकोण तथा पश्चिम की ओर थे उन्हें भयंकर क्षति हुई।

---

१. विज्ञान भारती, वास्तुशास्त्र विशेषांक मई १९९५ (जबलपुर)
२. बृहत्संहिता भूकम्पाध्याय
३. विज्ञान भारती अंक ३

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

- ईशानीय शौचालय और सीढ़ियों वाले भवनों में भी अपूर्णीय क्षति हुई।
- पूर्वाभिमुखी अधिकांश घर सुरक्षित रहे।
- महर्षि महेशयोगी विश्वविद्यालय भवन स्थापत्यवेद के नियमों के आधार पर बने रहने के कारण पूर्णतः सुरक्षित रहा। और सर्वेक्षण में यह देखा गया कि एक पंक्ति के कुछ मकान क्षतिग्रस्त और कुछ अक्षत पाये गये जिससे वास्तुशास्त्रीय नियमों की सार्थकता एवं उपयोगिता सिद्ध हुई।

भूकम्परोधी भवन का निर्माण–

कतिपय विद्वान भूकम्परोधी भवन के निर्माण के लिए मत्स्यपुराण में वर्णित वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के पालन पर जोर देते हैं, मत्स्य पुराण में नैर्ऋत्यकोण को भारी और ईशान कोण को हल्का रखने के लिए कहा गया है। इसका कारण बताया गया है कि भूकम्पीय ऊर्जा उत्तर से दक्षिण की ओर गतिशील होती है।

- नैऋत्यकोण को भारी बनाने के लिए इसमें सीमेंट, कंक्रीट तथा स्टील का अधिकाधिक प्रयोग किया जाना चाहिए।
- नींव को चरणानुसार (step wise) खोदा जाए।
- किन्तु कोई नींव भरी जाने से पूर्व गोमय (पञ्चगव्य विधि) से लेपकर पवित्र की जाए क्योंकि वह भूखण्ड कब्रगाह, शवदाह तथा पशुओं को दफनाने का स्थान आदि अनेक कारणों से अपवित्र हो सकता है।
- नींव में पवित्र नदी की बालू रेत बिछायी जाए वो कम से कम 9 इञ्च की तह हो। भूकम्प के समय बालू रेत आसानी से इधर-उधर सरकती है और भवन को गिरने से बचाती है।
- भूमिखण्ड का चयन बहुत सावधानी से किया जाए। न वह चट्टानी हो और न रेतीला बल्कि ठोस होना चाहिए।
- भवन के निर्माण में पत्थरों का उपयोग केवल लोहे की तारों के छल्लों में गूंथकर ही किया जाए। संक्षेपतः अपने देश के बढ़ते जनसंख्या के घनत्व तथा आर्थिक स्तर को ध्यान में रखकर वास्तुशास्त्रीय नियमों के परिप्रेक्ष्य में भूखण्ड, भवन-सामग्री के स्वरूप, मात्रादि में यथोचित परिवर्तन, परिवर्धन का प्रयोग करते हुए भूकम्परोधी सुदृढ़ भवनों का निर्माण आज की महती आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूमिशोधन में शल्योद्धार प्रक्रिया

—डॉ. बिहारीलाल शर्मा

प्राच्यविद्याओं के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाकर विवेक एवं बुद्धि से सम्पन्न किया है जिससे सृष्टि की व्यवस्था एवं धरती पर उद्भूत प्राणियों का संरक्षण हो सके। आधुनिक उपभोगवादी व्यय साध्य एवं सर्वविध सापेक्ष सुविधावादी जीवन पद्धति के लिए विज्ञान ने असंख्य उपादान एवं साधनभूत उपकरण दिये हैं। जीवन को सुखी, सुरक्षित एवं शान्तिमय बनाने के लिए जिन जिन महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य उपकरणों की आवश्यकता होती है उन में गृहनिर्माण सबसे महत्वपूर्ण है। गृहनिर्माण को न केवल सुविधा एवं सुरक्षा की दृष्टि से ही महत्व दिया गया है अपितु शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार गृहनिर्माण से गृहस्वामी को अनन्त पुण्यों के फल की प्राप्ति होती है। पुण्य के साथ साथ सुविधा एवं सुरक्षा की कामना से हर व्यक्ति अपने अपने सामर्थ्य एवं शक्ति के अनुसार गृहनिर्माण में प्रवृत्त होता है लेकिन गृह निर्माण अगर शास्त्रसम्मत रीति से नहीं किया गया तो गृहपति के द्वारा निर्मित गृह में पंच महाभूतों के साथ समुचित तालमेल के अभाव के साथ साथ प्राकृतिक शक्तियों का सही प्रबन्धन नहीं कर सकता। परिणाम स्वरूप ऐसे घर में निवास करने पर अशान्ति, आलस्य, रोग, कलह, दुर्घटना आदि अशुभ फल देखने को मिलते है। मनमाने निर्माण के कारण सब तरह के भौतिक सुख संसाधनों के उपलब्ध होते हुए भी व्यक्ति हताशा एवं निराशा के भंवर में फसकर भय, भ्रान्ति एवं अशान्ति का शिकार हो जाता है।

एतदर्थ भवन—निर्माण आरम्भ करने से पूर्व जिस भूखण्ड पर भवन-निर्माण किया जाना हो उसके भीतर स्थित शल्यादि के निष्कासन हेतु उस भूखण्ड को शल्योद्धार की प्रक्रिया से शुद्ध करना आवश्यक होता है। शल्य का शाब्दिक अर्थ है— हड्डी। परन्तु वास्तुशास्त्र में केश, चर्म, कोयला, काष्ठ, भस्म और तुष (भूसा) ये सब भी शल्य कहलाते हैं। जिस भूभाग पर मकान बनाना हो उसके भीतर अगर शल्य हो तो गृहस्वामी को शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। शल्योद्धार के बिना किया गया गृह—निर्माण कितना ही सुन्दर एवं भव्य क्यों न हो? तथापि वह सदैव दूषित रहता है। इस दोष के कारण भवन—स्वामी को जन—धन की हानि के साथ—साथ आकस्मिक दुर्घटनाओं का शिकार होना पड़ता है। अत: मकान बनाने से पूर्व भूमि का खनन कर जमीन में दबे हुए शल्य का विधिवत् निष्कासन करके ही गृह—निर्माण की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। इस संन्दर्भ में कहा गया है —

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्य वोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्।।[१]

---

१. वास्तुसौख्यम्,अ.३ श्लो.सं. ४०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् जलान्त (खुदाई करते हुए जहाँ जल निकल जाय), प्रस्तरान्त (जहाँ तक एक तरह की मिट्टी हो या बड़ी चट्टान आ जाय) अथवा पुरुष तुल्य ३.५ हाथ नीचे तक मिट्टी निकाल देने से शुद्ध वा निःशल्य भूमि मानी जाती है।

गृह–निर्माण हेतु निर्णीत भूखण्ड के किस भाग में कितनी गहराई पर शल्य है? यदि यह ज्ञात हो जाय तो भूखण्ड के उसी भाग को खोदकर शल्य का निष्कासन करके सम्पूर्ण भूखण्ड की खुदाई से बचा जा सकता है। वास्तु शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में भूखण्ड के भीतर शल्य की स्थिति की समुचित जानकारी के लिए कई विधियाँ वर्णित हैं। जिनमें से कुछ विशेष विधियों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है। शल्य जानने के लिए प्रथम विधि **प्रश्नाक्षर विधि** है, जो इस प्रकार है –

गृहभूमिं च नवधा विभज्य क्रमशोबुधः।
वर्णान्विन्यस्य जानीयाच्छुभाशुभमतः परम्।।
स्मृत्वेष्टदेवतां प्रष्टुर्वचनस्याद्यमक्षरम्।
गृहीत्वा तु ततः शल्याशल्यं सम्यग्विचार्यते।।
अकचटतपयशहपयाः वर्णाः पूर्वादिमध्यान्ताः।
शल्यकरा इह नान्ये शल्यगृहे निवसतां नाशः।।[१]

अर्थात् वास्तुभूमि को नौ बराबर भागों में विभक्त करके क्रमशः वर्ण–विन्यास कर शुभाऽशुभ ज्ञान के लिए अग्रवर्णित विधि का अनुसन्धान करें।

शल्यशोधन चक्र

ईशान श,ष,स,ह	**पूर्व** अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ए,ऐ,ओ,औ	**आग्नेय** क,ख,ग,घ,ङ
उत्तर य,र,ल,व	**मध्य** ह,प,य	**दक्षिण** च,छ,ज,झ,ञ
प,फ,ब,भ,म **वायव्य**	त,थ,द,ध,न **पश्चिम**	ट,ठ,ड,ढ,ण **नैऋत्य**

१. संग्रहशिरोमणि, अ.२० श्लो.सं.२४–२६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अपने इष्ट देव का स्मरण कर अग्रवर्णित विधि के अनुसार प्रश्न के प्रथम अक्षर से शल्य या अशल्य का ज्ञान करना चाहिए। शल्य ज्ञापक वर्ण अ,क,च,ट,त,प,य,श क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिणादि दिशाओं के बोधक हैं। ह प य ये वर्ण मध्य भाग के बोधक हैं। शल्य के बारे में दैवज्ञ से प्रश्न पूछने वाला (गृहस्वामी) अपने प्रश्न में जिस वर्ण का सर्वप्रथम उच्चारण करे उसी वर्ण की दिशा में अर्थात् भूमि के जिस भाग (दिशा) में वह वर्ण है उसी भाग में शल्य की स्थिति है ऐसा समझना चाहिए। जैसे– यदि प्रश्न कर्त्ता के प्रश्न का प्रथम वर्ण "द" हो तो समझना चाहिए कि भूखण्ड के पश्चिमी हिस्से (त,थ,द, ध,न, वाले हिस्से में) शल्य की स्थिति है। यहाँ इस बात का ध्यान रखें कि ह,प,य वर्णों की स्थिति भूखण्ड के मध्य भाग में भी है। अतः जब प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का प्रथमाक्षर ह,प,य वर्णों में से हो तो शल्य की स्थिति इन वर्णों की स्थिति के अनुसार दो स्थानों पर होगी। जैसे– मान लो प्रश्न का आद्यक्षर "प" है तो शल्य की स्थिति भूखण्ड के मध्य और वायव्य दोनों स्थानों में होगी।

वास्तु शास्त्र में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि यदि प्रश्नाद्यक्षर अवर्ग का हो तो भूखण्ड के पूर्वी भाग में डेढ हाथ नीचे मनुष्य की हड्डी (नरशल्य) होती है। इससे परिजनों को मृत्यु या मृत्यु तुल्य कष्ट होता है। कवर्ग का प्रश्नाद्यक्षर होने पर आग्नेय दिशा में खर शल्य दो हाथ नीचे होता है। इसके कारण राजदण्ड की सम्भावना होती है। प्रश्न का आद्यक्षर चवर्ग का हो तो दक्षिण दिशा में नर शल्य, गृहस्वामी की कमर तक की गहराई में मिलता है। इसके कारण दीर्घ–व्याधि से गृह स्वामी की मृत्यु होती है। प्रश्न का आद्यक्षर यदि ट वर्ग का हो तो नैर्ऋत्य दिशा में डेढ हाथ नीचे कुत्ते की अस्थि मिलती है जिससे बच्चों की मृत्यु होती है। यदि प्रश्न का आद्यक्षर तवर्ग का हो तो पश्चिम दिशा में डेढ हाथ नीचे किसी बच्चे की हड्डी होती है इससे गृह–स्वामी हमेशा प्रवास में रहता है। प्रश्नाद्यक्षर यदि पवर्ग का हो तो वायव्य दिशा में तुष और कोयला मिलता है, इसे मित्रनाश और दुस्वप्न का कारण माना गया है। प्रश्नाद्यक्षर यदि यवर्ग का हो तो उत्तर दिशा में विप्रशल्य कटिपर्यन्त गहराई पर मिलता है, इससे कुबेरसदृश अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति भी शीघ्र ही निर्धन हो जाता है। प्रश्नाद्यक्षर यदि शवर्ग का हो तो ईशान कोण में गोशल्य (गाय की हड्डी) डेढ हाथ नीचे मिलता है, इससे पशुधन का नाश होता है। यदि प्रश्नाद्यक्षर ह,प,य में से हो तो भूखण्ड के मध्यभाग तथा क्रमशः ईशान, वायव्य तथा उत्तर दिशा में नर कपाल, भस्म या लोहा छाती तुल्य गहराई पर पाया जाता है, यह कुल का नाश करने वाला होता है।[1] इसे निम्नांकित शल्योद्धार चक्र से भली प्रकार समझा जा सकता है–

१. संग्रहशिरोमणि २०/३०–३८ तक, अ.२० श्लोक सं. ३० से ३८ तक।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शल्य ज्ञान चक्र

प्रश्नाक्षर	शल्य की दिशा	शल्य का प्रकार	फल
अ,आ,इ,ई,	पूर्व	नर शल्य, डेढ हाथ नीचे	मृत्यु
उ,ऊ,ए,ऐ,ओ,औ			
क,ख,ग,घ,ङ	अग्निकोण	खर शल्य, दो हाथ नीचे	राजदण्ड
च,छ,ज,झ,ञ	दक्षिण	नर शल्य, कमर तक गहराई में	मृत्यु
ट,ठ,ड,ढ,ण	नैर्ऋत्यकोण	कुत्ते की हड्डी, डेढ हाथ नीचे	बाल–मृत्यु
त,थ,द,ध,न	पश्चिम	शिशुशल्य, डेढ हाथ नीचे	प्रवास
प,फ,ब,भ,म	वायव्यकोण	तुष और कोयला	मित्रनाश
य,व,र,ल	उत्तर	विप्रशल्य, कमर पर्यन्त नीचे	निर्धनता
श,ष,स,ह	ईशान कोण	गोशल्य, डेढ हाथ नीचे	पशुधन हानि
ह,प,य	मध्य एवं क्रमशः ईशान वायव्य, उत्तर	नर कपाल, भस्म, लोहा, छाती पर्यन्त नीचे	कुलनाश

वास्तु सारणी में एक अन्य रीति का उल्लेख किया गया है– भूखण्ड को नौ बराबर भागों में विभाजित कर पूर्व–आग्नेय–दक्षिणादि दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से व,क,च,त,ए,ह,श,प तथा मध्य में य इन नौ अक्षरों को स्थापित करना चाहिए।

शल्य–बोधक–चक्र

ईशान प	पूर्व व	आग्नेय क
उत्तर श	मध्य य	दक्षिण च
वायव्य ह	पश्चिम ए	नैर्ऋत्य त

तदनन्तर वास्तु भूमि के मध्य में घट स्थापन करके स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन पूर्वक अपने इष्टदेव एवं कुलदेवता का स्मरण कर भूमि का पूजनकर, ब्राह्मणत्रय द्वारा "ऊँ धरणी विदारिणी भूत्यै स्वाहा" इस

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्त्र का (३०००) तीनसहस्र (प्रत्येक ब्राह्मण तीन—तीन हजार) अर्थात् कुल ९००० जप करवाकर प्रश्नकर्त्ता (गृहस्वामी) अपने इष्टदेव का स्मरण कर हाथ से भूमि का स्पर्श करता हुआ वास्तु भूमि के भीतर शल्य ज्ञान के निमित प्रश्न करे। प्रश्न के समय ब्राह्मण पुष्प, क्षत्रिय नदी, वैश्य देवता और अन्य लोग फल के नाम का उच्चारण करे। इस प्रकार गृह—स्वामी द्वारा उच्चारित पुष्पादिकों का प्रथमाक्षर जिस दिशा वाले भूभाग का प्रतिनिधित्व करता है उसी भूभाग में शल्य कहना चाहिए। जैसा कि वास्तुसारणी में कहा गया है :—

शल्यमस्ति न वा प्रश्ने स्थापयेच्छोभनं घटम्।
घृतसिद्धिश्च मन्त्रैश्च स्वाहान्त्यैः प्रणवादिकैः।।
नवकोष्ठेषु चक्रेषु.....[१]

इसे तालिका द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

शल्योद्धार तालिका

उच्चारित पुष्पादि का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्य का नाम/शल्य की स्थिति	फल
व	पूर्व	नरशल्य, डेढ हाथ नीचे	मृत्यु
क	आग्नेय	खरशल्य, कमर पर्यन्त नीचे	राजदण्ड
च	दक्षिण	वानर शल्य, कमर पर्यन्त नीचे	मृत्यु
त	नैर्ऋत्य	कुत्ते की हड्डी, डेढ हाथ नीचे	महाभय
ए	पश्चिम	शिशु शल्य, डेढ हाथ नीचे	प्रवास
ह	वायव्य	नर शल्य, चार हाथ नीचे	मृत्यु
श	उत्तर	ब्राह्मण शल्य, कमर मात्र नीचे	गृहनाश तथा दरिद्रता
प	ईशान	वानर शल्य, कटिमात्र नीचे	पशुनाश
य	मध्य	कपाल की हड्डी एवं लोहभस्म,कटि मात्र नीचे	कुलक्षय

उदाहरणार्थ — यदि प्रश्नकर्त्ता द्वारा उच्चारित पुष्पादिकों का प्रथमाक्षर 'क' हो तो अग्निकोण में कमर पर्यन्त नीचे खर शल्य (गधे की हड्डी) होगा, जिसका फल गृहस्वामी को राजदण्ड होगा। यहाँ इस

१. वास्तु सारणी, शल्यविचार, श्लो.सं. १८—३२

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बात का ध्यान रखना होगा कि इस विधि को अपनाने से भूमि कई बार शल्य रहित सिद्ध हो सकती है, क्योंकि इसके अनुसार शल्य तभी सिद्ध होगा जब प्रश्नकर्त्ता द्वारा उच्चारित पुष्पादि का प्रथमाक्षर केवल व,क,च,त,ए,ह,श,प अथवा 'य' हो यदि इन अक्षरों के अतिरिक्त कोई अन्य अक्षर प्रश्न का आद्यक्षर हो तब भूमि में शल्य की स्थिति शून्य होगी।

शकुन के आधार पर शल्य ज्ञान

१. गृह–निर्माण हेतु खनन का आरम्भ करते समय गृह–स्वामी के जिस अंग में खुजली पैदा हो तो भूखण्ड में व्याप्त वास्तुपुरुष के उसी अंग में उस अंग तुल्य गहराई में ही शल्य होता है।[१]

२. प्रश्न काल में गृह–स्वामी अपने जिस अंग के बल बैठा हो अथवा जिस अङ्गका स्पर्श कर रहा हो, वास्तु भूमि में वास्तु पुरुष के उसी अंग वाले हिस्से में उस अंग तुल्य गहराई में शल्य की स्थिति समझनी चाहिए।[२]

३. सूत्र से भूमि संशोधन के समय अगर कोई उस सूत्र को लाँघ जाय तो वहाँ पर ३.५ हाथ नीचे शल्य समझना चाहिए। अथवा उस समय भूखण्ड की जिस दिशा में कोई अभ्यागत दिखाई दे, तो उसी दिशा में सत्तर अंगुल नीचे शल्य जानना चाहिए। अथवा सूत्र–प्रसारण के समय यदि सूत्र के ऊपर कुत्ता आ जाय तो जिस दिशा में कुत्ता सूत्र के ऊपर आए उसी दिग्भाग में ६० अंगुल नीचे शल्य होता है। यदि कोई पागल आदमी आ जाए तो दो हाथ गहरा शल्य उसी स्थान पर समझें। अथवा भूमि संशोधन हेतु प्रसारित सूत्र यदि टूट जाय अथवा घड़ा फूट जाय तो वहाँ बनने वाले घर में स्त्री–पुरुष दोनों की मृत्यु होती है।[३]

विविधप्रकार के शल्य का फल

शल्ये गवां भूपभयं हयानां रूजः शुनां वै कलहप्रणाशौ।
खरोष्ट्रयोर्हानिरपत्यनाशं नृणामजस्याग्निभयं तनोति।।[४]

अर्थात् गाय का शल्य राजभय, घोड़े का रोग, कुत्ते का कलह तथा विनाश, गधा एवं ऊँट का हानि, मनुष्य का संतति नाश और बकरे का अग्निभय करता है।

---

१. वास्तुसौख्यम्, श्लो.सं. ४८–४९

२. पृच्छाकाले गृहस्वामी यदंगं स्पृशति स्वकम्।
भुवो हस्तप्रमाणेन शल्यं ब्रूयात् तदंगजम्।।

३. बृहद्वास्तुमाला–भूमिशोधने सूत्रनिर्णय एवं शल्याधिकारः, श्लो.सं.१६०–१६५

४. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, प्र.अ. श्लो.सं.२१

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शल्य की प्रभावहीनता

वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं का मत है कि एक पुरुष तुल्य (३.५ हाथ) गहराई से नीचे स्थित शल्य प्रभावहीन हो जाता है। अत: सम्पूर्ण वास्तु भूमि का पुरुष तुल्य (३.५ हाथ) गहराई तक उत्खनन कर उसका भली प्रकार शोधन करके शल्यादि का निष्कासन कर उसे कपिशीर्षप्रमाण (बन्दर के सिर के समान) अर्थात् छोटे–छोटे पत्थरों से भर देना चाहिए। वास्तु भूमि का खनन करते समय यदि पुरुषतुल्य गहराई तक जाने से पूर्व ही कोई बड़ी शिला (चट्टान आदि) आ जाय या जलधारा निकल आए तो और उत्खनन की आवश्यकता नहीं मानी गई है।[१]

वस्तुत: शल्योद्धार के विना निर्मित भवन में निवास करने वाले लोगों को वास्तुभूमि में व्याप्त दोष के कारण सुख, शान्ति एवं समृद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती। अत: उपरोक्त विधियों के अनुसार वास्तुभूमि का शल्य–निष्कासन करवाने के पश्चात ही भवन निर्माण प्रक्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

---

१. वास्तुसौख्यम्,अ.३ श्लो.सं. ४०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र विषयक जैन परम्परा

–डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

जैनपरंपरा में प्राचीनकाल से ही मन्दिरों तथा भवनों का निर्माण वास्तुशास्त्र के विधान के अनुसार ही होता आया है। रणकपुर, देलवाड़ा, पालीताना, श्रवणवेलगोला, खजुराहो आदि हजारों स्थलों पर जिस वैज्ञानिक रीति से वास्तु का प्रयोग हुआ है वह पूरे विश्व को अचम्भित कर देने वाला है। जैनधर्म के आद्यप्रवर्तक तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम वास्तु विद्या का उपदेश देकर उससे सम्बन्धित अन्य अनेक विद्याओं का प्रवर्तन किया था।

वास्तुविद्या के आद्यप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव–

जैनधर्म के आद्यप्रवर्तक तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं। जैन साहित्य में इन्हें प्रजापति, आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव पुरुदेव, नाभिसूनु और वृषभ नामों से भी समुल्लेखित किया गया है। युगारंभ में इन्होंने प्रजा को आजीविका के लिए कृषि (खेती), मसि (लिखना-पढ़ना शिक्षण), असि (रक्षा के हेतु तलवार, लाठी आदि चलाना), शिल्प, वास्तु वाणिज्य (विभिन्न प्रकार का व्यापार करना) और सेवा-इन षट् कर्मों (जीवनवृत्तियों) के करने की शिक्षा दी थी, इसलिए इन्हें "प्रजापति" भी कहा गया है।

तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट वाणी द्वादशाङ्ग-अङ्गप्रविष्ट कही जाती है।अंगप्रविष्ट के विषयक्रम से 12 भेद हैं जिनकी 'अंग' संज्ञा है। इनमें अन्तिम 12वें दृष्टिवाद अंग के 5 भेद हैं–1. परिकर्म, 2. सूत्र 3. प्रथमानुयोग, 4. पूर्वगत और 5. चूलिका। परिकर्म के 5, पूर्वगत के 14 और चूलिका के 5 भेद हैं। पूर्वगत के 14 भेद इस प्रकार हैं–1. उत्पाद, 2. आग्रायणीय, 3. वीर्यानुवाद, 4. अस्तिनास्तिप्रवाद, 5. ज्ञानप्रवाद 6. सत्यप्रवाद, 7. आत्मप्रवाद, 8. कर्मप्रवाद, 8. प्रत्याख्यान प्रवाद, 10. विद्यानुवाद, 11. कल्याणवाद, 12. प्राणावाय, 13. क्रियाविशाल और 14. लोकबिन्दुसार। इनमें उनके नामानुसार विषयों का वर्णन है।

इन 14 पूर्वों में 13वें क्रियाविशाल में नौ करोड़ पदों द्वारा 72 कलाओं तथा 64 विद्याओं का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। इन्हीं में शिल्पकला, वास्तुविद्या का विस्तार से वर्णन होता है।

जिनप्रतिमा, जिनमंदिर निर्माण के वास्तु नियमों का उल्लेख

आचार्य वसुनंदि (12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) के अनुसार स्थापना पूजा (सद्भाव स्थापना) के अन्तर्गत जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, प्रतिष्ठाकारक, प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठाफल आदि का

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्णन किया गया है जो आचार्य वसुविन्दु (जयसेन), आशाधर, नेमिचन्द्र, नरेन्द्रदेव, हस्तिमल्ल माघनंदि, कुमुदचन्द्र भट्टारक अकलंक, राजकीर्ति आदि प्रकाशित-अप्रकाशित प्रतिष्ठाग्रन्थों में भी उपलब्ध है। इनमें आचार्य जयसेन का संस्कृत भाषा का प्रतिष्ठापाठ, पं. आशाधर (वि. सं. 1285) का प्रतिष्ठा सारोद्धार एवं पं० नेमिचन्द्र का प्रतिष्ठातिलक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। आचार्य वसुनंदि की संक्षिप्त प्रतिष्ठाविधि इनसे पूर्व की है। इनसे भी पूर्व प्रतिष्ठित प्रतिमायें सिंधुघाटी की खुदाई में मोहनजोदड़ों व हड़प्पा से उपलब्ध सहस्रों वर्ष पूर्व की भारतीय मूर्तिकला के महत्त्व का दिग्दर्शन कराती हैं। कुषाण कालीन (सन् 70 ई.) जैन मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में विद्यमान हैं। कलिंग नरेश खारवेल के (ईस्वी पूर्व 3री शती) हाथी गुफा शिलालेख में बताया है कि ईस्वी पूर्व तीसरी-चौथी शती में आदि जिन ऋषभदेव की एक जैन मूर्ति मगध नृप नन्दराज कलिंग को विजित कर ले गया था। उसे खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके विजयपूर्वक वापिस प्राप्त कर ली। ईसा की चौथी शताब्दी से प्रारंभ हुए गुप्तकाल की प्रतिमायें मथुरा संग्रहालय में विद्यमान हैं। तीर्थंकर मूर्तियों पर चिन्हों का प्रदर्शन ई० 8वीं शती के प्रचार में आया है। शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा ईस्वी 1490 में प्रतिष्ठापित लगभग एक लाख मूर्तियाँ समस्त भारत में स्थान-स्थान पर जैन मन्दिरों में पहुँचाई गई मिलती हैं।

जैन मंदिर और मूर्तियों के प्राचीन प्रमाण बिहार में पटना के पास लोहानीपुर में मौर्यकालीन कलाकृतियों की परम्परानुसार प्राप्त हुए हैं। यहाँ जैन मन्दिर की नींव व ईंटें, रजत सिक्का व दो बिना सिर की मूर्तियाँ मिली हैं, जो पटना संग्रहालय में है। ई. 472 में राजशाह बंगाल के जहाजपुर में पंचस्तूपनिकाय के दिगम्बर आचार्य गुणनंदि जहाँ विराजमान रहे उस विहार मंदिर का लेख मिलता है। देवगढ़ (झांसी-ललितपुर) में आठवीं से बारहवीं शती तक के मंदिर हैं। देवालय नगर खजुराहो में सुन्दर शिखरयुक्त जैन मंदिर हैं। बावनगजा बड़वानी मध्य प्रदेश में बावनगजा-चूलगिरि क्षेत्र में ऋषभदेव तीर्थंकर की 84 फुट उन्नत विश्व में सबसे ऊंची खड्गासन प्रतिमा लगभग दो हजार वर्ष प्राचीन है। ई० 1031 की प्रतिष्ठित प्रतिमाओं से युक्त आबू के जैन मंदिर कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। रणकपुर (राजस्थान) में सन् 1439 का विशाल चतुर्मुखी मंदिर चालीस हजार वर्गफुट में बना हुआ दर्शनीय है। देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करने पर प्राचीन मंदिरों के दर्शन होते हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनमंदिर, जिनधर्म, जिनशास्त्र और जिन-प्रतिमा ये नव देवता कहलाते हैं, जिनकी गृहस्थ प्रतिदिन पूजा करता है।

जिनमंदिर के निर्माण हेतु स्थान सुन्दर, शुद्ध सर्पादि के विल व श्मशान रहित तथा उपजाऊ भूमि वाला होना चाहिए। समीप ही नगर व जलाशय हो, जहाँ भूकंप, विधर्मी व लुटेरों का भय न हो। मंदिर का द्वार पूर्व या उत्तर दिशा में रहे। जिन प्रतिमा का मुख भी वहाँ पूर्व या उत्तर में रहे। जिस वेदी या चबूतरे पर प्रतिमा विराजमान की जाए, वह ढाई फुट ऊंचा हो। उसके ऊपर कमल या कटनी उतनी ऊंची रखी जाए कि द्वार से प्रतिमा की दृष्टि प्रतिष्ठा शास्त्रानुसार रह सके। वसुनंदि प्रतिष्ठासार के अनुसार द्वार के 8 भाग करके उसमें 7वें भाग के भी 8 भाग करें। उसके

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

7वें भाग के प्रतिमा की दृष्टि रखी जाए। अन्य शास्त्रानुसार द्वार के 64 भाग करके 55वें भाग में प्रतिमा की दृष्टि रखी जाए।

मंदिर मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, वैशाख और ज्येष्ठ महीनों के शुभ दिनों में प्रारंभ किया जाये। नींव मूल, आश्लेषा, विशाखा, कृत्तिका पूर्वाभाद्रपद, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वफाल्गुनी, भरणी मघा इन अधोमुख नक्षत्रो में खोदें। मंगलवार व शनिवार को तथा मिती 4, 9, 14, 30, 1, 5 को नहीं खोदना चाहिए। ज्योतिष की दृष्टि से सूर्य 12, 1, 2वीं राशि पर हो तो आग्नेय में 9, 10, 11 वीं राशि पर सूर्य हो तो नैर्ऋत्य में, 6, 7, 8 वीं राशि पर सूर्य हो तो वायव्य में और 3, 4, 5वीं राशि पर सूर्य हो तो ईशान में नींव खोदनी चाहिए। खनन कार्य (भूमि पूजा) के पश्चात् शिलान्यास आर्द्रा पुष्य धनिष्ठा, उत्तराफाल्गुन, उत्तराभाद्रपद व रोहिणी इन ऊर्ध्व मुख नक्षत्रों में करना चाहिए। नींव में चौड़े मुख का ताम्रकलश, उसमें जलता हुआ दीपक रखना चाहिए। शिला पर एक विनायक यंत्र व प्रशस्ति भी रखना चाहिए। ऊपर दूसरी शिला रखकर बन्द कर ईंटों से स्थान पूर्ण किया जाना चाहिए। इस प्रकार चारों विदिशाओं व मध्य में जहाँ प्रतिमा विराजमान की जानी है, वहाँ भी नीचे ताम्रकलश रखा जा सकता है।

मंदिर निर्माण करके उसमें नीचे विशाल हाल (कमरा) में पूर्वोत्तर मुख (दोनों में किसी एक दिशा में) प्रतिमा कमल पर विराजमान करें। चबूतरे की ऊंचाई अढ़ाई फुट रखना चाहिए।

गृहचैत्यालय में 3,5, 7, 9 और 11 अंगुल की सर्वधातु (पीतल, तांबा, चांदी, सोना आदि धातु की मिश्रित) प्रतिमा विराजमान की जाती है। मंदिर की ऊचाई से शिखर सवा गुना या डेढ़ गुना निर्माण किया जाये। उस पर कलश और उससे दो हाथ या अधिक की ध्वजा शिखर के पीछे की ओर निर्माण की जाये। ध्वजा के वस्त्र में स्वस्तिक दोनों ओर रहे।

जैन प्रतिमा-विज्ञान और वास्तु–

आचार्य जयसेन कृत प्रतिष्ठापाठ में प्रतिमा निर्माण के मानक बतलाते हुए लिखा है–

संस्थानसुन्दरमनोहररूपमूर्ध्वप्रालंवितं ह्यवसनं कमलासनं च।
नान्यासनेन परिकल्पितमीशबिंबमर्ह विधौ प्रथितमार्यमतिप्रपन्नैः॥
वद्धत्वबाल्यरहितांगमुपेतशांति श्रीवृक्षभूषितमुखं नखकेशहीनम्।
सद्धातुचित्रहृषदां समसूत्रभागं वैराग्यभूषितमुखं तपसि प्रशक्तम्॥[1]

सांगोपांग, सुन्दर, मनोहर, कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन, दिगंबर, युवावस्था सहित शांतिभावयुक्त, हृदय पर श्रीवत्स चिह्न सहित, नखकेशहीन पाषाण या अन्य धातु रचित, रमचतुरस्र संस्थान एवं वैराग्यमय प्रतिमा पूज्य होती है।

उक्त लक्षणों में अर्हन्त प्रतिमा के अष्टप्रातिहार्य (अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुंदुभि, सिंहासन,

1. प्रतिष्ठापाठ, पृ. 388

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

छत्रत्रय, चमर, दिव्यध्वनि, भामंडल) और जिनतीर्थंकर की प्रतिमा हो उनका चिह्न (चौबीस) तीर्थंकरों का क्रमशः चिह्न (वृषभ, गज, अश्व, वार, कोक, रक्तकमल, स्वास्तिक, चन्द्र, मगर, कल्पवृक्ष, गेंडा, महिष, शूकर, सेही बज्र, अज, मीन, कलश, कच्छप, नीलकमल शंख, नाग और सिंह) होते हैं।

ऋषभदेव की प्रतिमा के शिर पर केश, सुपार्श्वनाथ प्रतिमा पर 5 फण, पार्श्वनाथ प्रतिमा पर सप्त या अधिक फण, बाहुबलि प्रतिमा पर बेल परम्परानुसार निर्माण की जाती है। सिद्ध प्रतिमा पर चिह्न नहीं होते और प्रातिहार्य भी नहीं होते। प्रतिमा नासाग्रदृष्टि और क्रूरतादि 12 दोषों (रौद्र कृशांग, संक्षिप्तांग, चिपिटनासा, विरुकनेत्र, हीनमुख, महोदर, महाहृदय, महाअंग, महाकटी, हीनजंघा, शुष्कजंघा) से रहित होती है।

प्रतिमा निर्माण के उत्तरात्रय, पुष्य रोहिणी, श्रवण, चित्रा, धनिष्ठा, आर्द्रा नक्षत्रों और चन्द्र गुरु, शुक्र तथा तीर्थंकरों के गर्भ कल्याणक दिवस में शुभ माने गए हैं।

कायोत्सर्ग प्रतिमा का मानक

कायोत्सर्ग प्रतिमा के मानक भी तय हैं। उनका वर्णन निम्नवत् है–

	नवताल	दशताल
मुख	12 अंगुल	13 अंगुल
ग्रीवा	4 अंगुल	4 अंगुल
ग्रीवा से हृदय तक	12 अंगुल	13 अंगुल
हृदय से नाभि तक	12 अंगुल	13 अंगुल
नाभि से लिंग तक	12 अंगुल	13 अंगुल
लिंग से घुटना तक	24 अंगुल	27 अंगुल
गोड़ा	4 अंगुल	4 अंगुल
गोड़ा (घुटना) से गुल्फ (टिकूण्य) तक	24 अंगुल	27 अंगुल
गुप्ल (पैर की गांठ से तले तक)	4 अंगुल	4 अंगुल
कुल	108	120

उक्त माप में प्रथम नवताल, आचार्य वसुनंदि कृत प्रतिष्ठापाठ में द्वितीय आचार्य नेमिचन्द्र व आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचंपू के प्रमाण से लिया गया है। बारह अंगुल का एक ताल होता है इसे वितस्ति या मुख भी कहते हैं। अंगुल को भाग भी कहते हैं। इस प्रकार की नवताल प्रतिमा

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का निर्माण वर्तमान में जयपुर के कारीगरों द्वारा किया जा रहा है।

पद्मासन प्रतिमा का मान 54 अंगुल होता है। इस पद्मासन प्रतिमा के दोनों घुटने तक सूत्र का भाग, दाहिने घुटने से बायें कन्धे तक और बायें घुटने से दाहिने कंधे तक तथा नीचे से ऊपर के शांत भाग तक लम्बे सूत्र का भाग ये चारों भाग समान होते हैं। इसे समचतुरस्र कहते हैं। इस प्रकार अं. 13'' + 13'' 13'' + 13'' = 54 अंगुल प्रतिमा के हुए। इसमें दोनों हाथ की अंगुली के और पैडू के अंतर 4 भाग, कोहनी के पास 2 भाग का उदर से अंतर ओर पोची से कोहनी तक शोभानुसार हानिरूप रखें। नाभि से लिंग 8 भाग नीचा, 5 भाग लंबा बनावें तथा लिंग के मुख के नीचे अभिषेक के जल का निकास दोनों पैरों के नीचे से चरण चौकी के ऊपर करना चाहिए।

जैनग्रंथों में वास्तु विधान मूलतः जिनमंदिरों के निर्माण के लिए ही किया गया है। प्रतिष्ठासारोद्धार से स्पष्ट लिखा है–

जैनं चैत्यालयं चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम्।
वाञ्न स्वस्य नृपादेश्च, वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्।।[1]

पं. आशाधरसूरि ने प्रतिष्ठाचार्य को अनेक विषयों के साथ वास्तुशास्त्र का विशेषज्ञ होना भी अनिवार्य बताया है–"श्रावकाध्ययन-ज्योतिवास्तुशास्त्र-पुराणवित्।" अर्थात्-प्रतिष्ठाचार्य को श्रावकाचार, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र और पुराणग्रन्थों का जानकार होना चाहिए।

वास्तुविद्या पर रचित जैन साहित्य–

जैन पुराणों तथा करणानुयोग के प्रायः सभी ग्रंथों से वास्तु विद्या और शिल्पशास्त्र पर विशद प्रकाश पड़ता है। त्रिलोक, मध्यलोक, जम्बूद्वीप, मेरू, समवशरण आदि की रचना पर सहस्रों गाथाएं और श्लोक हैं। 'लोयविभाग' करणानुयोग का प्राचीन किन्तु अनुपलब्ध ग्रन्थ है, जिसका संस्कृत रूपान्तर लोक-विभाग के नाम से मुनि सिंह सूरि ने लगभग 11 वीं शती में किया था। एक और अनुपलब्ध ग्रन्थ है–'ज्योतिष्करण्डक' जो कि 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है और जिस पर आचार्य पादलिप्त सूरि (5वीं शती) की प्रकरण टीका तथा आचार्य मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वाधिक विस्तृत और सूचना प्रधान ग्रंथ है आचार्य यति वृषभ का 'तिलोयपण्णत्ती' जिसका अनुसरण अनेक आचार्यों ने किया है। उसमें अनेक नागरियों के विस्तृत विवरण हैं। आवासगृह, जलाशय, बाजार, परकोटा, प्रवेशद्वार, राजभवन, गुफा, स्तूप, मंदिर मानस्तम्भ मेरू आदि की लम्बाई-चौड़ाई ऊंचाई-गहराई, नाप-जोख आदि तक बताए गए हैं। तीर्थंकर के समवशरण का वर्णन तो और भी विस्तार से है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का 'त्रिलोकसार'

---

1. प्रतिष्ठासारोद्धार श्लोक 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(11वीं शती) आचार्य पद्मनन्दि का 'जंबुद्दीपण्णत्ती' आदि भी उल्लेखनीय हैं।

पांचवी शती के आचार्य पादलिप्त सूरि की 'निर्वाणकलिका' दसवीं शती के उत्तरार्द्ध के आचार्य वीरनन्दि द्वितीय की 'शिल्पिसंहिता' और आचार्य इंद्रनन्दि का 'प्रतिष्ठापाठ', लगभग ग्यारहवीं शती के आचार्य ब्रह्मदेव का 'प्रतिष्ठा-तिलक', पंडित आशाधर का 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार (1228 ई.) और 'पूजापाठ' उनके समकालीन पंडित ठक्कुर फेरू का 'वत्थु-सार-पयरण' (1315 ई.) प्रसिद्ध नाटककार हस्तिमल का 'प्रतिष्ठापाठ' बारहवीं-तेरहवीं शती के पण्डित नेमिचंद्रदेव का 'प्रतिष्ठा-तिलक', तेरहवीं शती के नेमिचंद सूरि (उपर्युक्त पंडित जी) का प्रवचन-सारोद्धार और उस पर उसी समय के सिद्धसेन सूरि (देशभद्र के शिष्य) की 'तत्वज्ञान-विकासिनी' नामक टीका, उपाध्याय सकलचन्द्र का 'प्रतिष्ठा-कल्प', आचार्य उग्रादित्य का 'कल्याण-कारक', आ. सकलचन्द्र का 'प्रतिष्ठा-कल्प', आचार्य उग्रादित्य का कल्याणकारक, आ. जयसेन द्वारा लिखित 'प्रतिष्ठापाठ' एवं वसुनन्दि आार्य का 'प्रतिष्ठापाठ' आदि विशेष उल्लेखनीय है। आ. जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ में मंदिर के निर्माण के संबंध में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

भारतीय साहित्य की अधिकांश विधाओं में पंडित आशाधर का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 1228 ई. में लिखे गए उनके 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' में मूर्ति प्रतिष्ठा के माध्यम से वास्तु विद्या का भी विधान है। 'जिन-यज्ञकल्प' के दूसरे नाम से भी प्रसिद्ध 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' प्रौढ़ प्रांजल संस्कृत में 971 श्लोकों के छह अध्यायों में विभक्त है।

वास्तु विद्या पर स्वतंत्र और सांगोपांगरूप से वर्णन करने वाला कदाचित् एक मात्र प्रकाशित स्वतंत्र जैनग्रंथ है– ठाक्कुर फेरू का 'वत्थुसार-पयरण' अर्थात् 'वास्तुसार-प्रकरण'। 1315 ई. में लिखित इस प्राकृत ग्रंथ में क्रमशः 158. 54 और 70 गाथाओं के क्रमशः तीन अध्याय है। गृह-प्रकरण, बिंबपरीक्षा-प्रकरण, प्रसाद-प्रकरण। इतनी कम गाथाओं में वास्तु विद्या और शिल्प-कला के अधिसंख्य पक्षों का विधान इस ग्रंथ की एक विशेषता है।

'वत्थु सार पयरण' का प्रथम प्रकाशन जैन विविध ग्रंथमाला जयपुर से 1936 में हुआ था, इसके संपादक-अनुवादक पं. भगवानदास जैन थे।

वास्तु विद्या के लिए पुराण साहित्य का योगदान भी महत्वपूर्ण है। इस विषय में आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' (783 ई.) में अत्यधिक विस्तार से लिखा है। उनके बाद उल्लेखनीय है–आचार्य पुष्पदंत (10 वी शती) का अपभ्रंश 'महापुराण', आचार्य हेमचन्द्र सूरि (12वीं शती) का 'प्राकृत तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार' आचार्यकल्प पंडित आशाधर का (13वीं शती) का 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित' आदि। इनके अतिरिक्त काव्य, नाटक, चंपू आदि ग्रंथों में विभिन्न नगरों, राजप्रसादों जिनालयों आदि के वर्णन आते हैं, उनसे भी वास्तु विद्या के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ज्योतिष के ग्रंथों में भी मकान, मंदिर आदि के निर्माण की विधि, मुहूर्त, फलाफल आदि पर विचार करते समय वास्तुविद्या के संदर्भ आते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आधुनिक काल में भी अनेक साहित्य का प्रणयन हुआ है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया है। इस प्रकार वास्तुशास्त्र विषयक जैन परम्परा का हमने यहाँ विवेचन ही किया है।

सहायक ग्रंथ तथा लेख–

1. वत्थु–विज्जा, गोपीलाल अमर, कन्दकुन्द भारती नई दिल्ली 1996, प्र. सं0
2. वत्थु-विज्जा, आर्यिका विशुद्धमती, भ. दि. जैन महासभा, लखनउ, 2000 प्र. सं.
3. मूर्तिपूजा एवं मूर्ति प्रतिष्ठा, पं. नाथूलाल जैन, शास्त्री इन्दौर
4. जैन मूर्ति-प्रतिष्ठा का लक्ष्य-पं. गुलाबचन्द्र "पुष्प" टीकमगढ़
5. वास्तु विज्ञान-आर्यिका विशुद्धमती
6. वास्तु संस्कार-हंसमुख जैन, नन्दन वन, धरियावद
7. वास्तु विज्ञान-पं. सनत, विनोदकुमार रजवांस
8. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, खण्ड-3, प्रकाशन उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वारस्थापना के वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्त

—डॉ० अशोकथपलियाल

मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में आवास व्यवस्था भी एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। आदिकाल से ही मानव ने सुरक्षा एवं सुविधा प्राप्ति के लिए आश्रयस्थलों का अन्वेषण प्रारम्भ कर दिया था। सर्वप्रथम मानव ने प्राकृतिक गुफाओं में अपने लिए निवासस्थल परिकल्पित किये परन्तु उसमें द्वारादि के अभाव में पर्याप्तसुरक्षा की कमी को देखकर अपनी बुद्धिकौशल से कृत्रिम आवासस्थल का निर्माण किया। धीरे धीरे वही गृहनिर्माणकला विकसित होकर एवं भवनादि निर्माण सिद्धान्तों के द्वारा परिपुष्ट होकर वास्तुशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुई।

वास्तुशब्द का तात्पर्य निवासस्थान से है। इस शब्द की निष्पत्ति निवासार्थक 'वस्' धातु से हुई। अत: वास्तुशब्द का अर्थ है 'वह स्थान विशेष जहाँ प्राणी निवास करते हैं' अर्थात् भवननिर्माण योग्य भूमि ही वास्तु है। भूमि के शुभाशुभ परीक्षण एवं भवननिर्माण विधि को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र 'वास्तुशास्त्र' है। वास्तुशास्त्र में दिशा एवं देश के अनुरूप गृहादि निर्माण की प्रविधियों के नियम विवेचित हैं। प्राकृतिक शक्तियों एवं पंचमहाभूतों के तारतम्य व उनके समुचित प्रबन्धन द्वारा प्राणिमात्र की शारीरिक एवं मानसिकक्षमताओं में वृद्धि के साथ ही स्वस्थ व गतिशील करने के सदुद्देश्य से वास्तुनिर्माण के मानकसिद्धान्तों का प्रतिपादन वास्तुशास्त्र के प्राचीनाचार्यों ने किया है। उन्हीं सिद्धान्तों में से द्वारस्थापना के प्रमुख सिद्धान्त यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

वास्तुक्षेत्र की सुरक्षा के लिए, व्यवधान रहित आवागमन के लिए एवं वायु के सुचारु रूप से संचरण के लिए वास्तुशास्त्र में द्वारस्थापन के विषय में विशदरूप से चर्चा मिलती है। द्वार की स्थापना भवन के किस भाग में, कब व कैसे हो इस बारे में कई नियम व प्रविधियाँ प्रचलित हैं। जो विभिन्न मानकों के अनुसार कही गई हैं। उनमें से कुछ प्रविधयाँ निम्नलिखित हैं —

सूर्यस्थित राशि के अनुसार द्वारविचार —

श्रीपति के अनुसार दिशा भेद एवं सूर्य स्थित राशि के अनुसार शुभद्वार निम्नलिखितचक्र में स्पष्ट हैं।[1]

क्र०	सूर्यस्थ राशि	द्वार दिशा
१	कर्क, मकर, सिंह, कुम्भ	पूर्व, पश्चिम।
२	तुला, मेष, वृष, वृश्चिक	उत्तर, दक्षिण।

१. मु०चि० १२/१५ पीयूषधारा टीका

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आचार्य श्रीपति ने उक्ट राशिस्थ सूर्य में निर्दिष्ट दिशा में ही द्वार शुभ माना। इसके अतिरिक्त मीन, धनु, मिथुन एवं कन्या राशिस्थ सूर्य में सभी दिशाओं में द्वार बनाना अशुभ माना, उन्होंने कहा है कि यदि इन राशियों में स्थित सूर्य में द्वार स्थापित होता है तो दुर्मति, व्याधि, शोक एवं जन हानि होती है।

माण्डव्य के मतानुसार द्वारस्थापना–

गृह के जिस भाग में द्वारस्थापन अभीष्ट हो उस भाग के मान में नौ का भाग देकर पाँच भाग दक्षिण के एवं तीन भाग उत्तर के छोड़कर अवशिष्टभाग में द्वारस्थापना करनी चाहिए।[१]

ध्वजादि आय के अनुसार गृहद्वारविचार[२] –

आयनाम	प्रशस्तद्वार दिशा
ध्वज	सभी दिशायें
सिंह	पूर्व, दक्षिण एंव उत्तर
वृष	पूर्व
गज	पूर्व एंव दक्षिण

ब्राह्मणादि वर्ण एवं ध्वजादि आय के अनुसार गृहद्वारविचार[३] –

आयनाम	वर्ण	प्रशस्तद्वार दिशा
ध्वज	ब्राह्मण	पश्चिम
सिंह	क्षत्रिय	उत्तर
वृष	वैश्य	पूर्व
गज	शूद्र	दक्षिण

वास्तुपद के अनुसार द्वारविचार –

बृहत्संहिता[४] में वास्तुपद के अनुसार दिशाओं में द्वारस्थापना का फल उल्लिखित है। गृह के जिस देव के स्थान में द्वार हो उसका फल निम्नानुसार जानना चाहिए –

१. वास्तुप्रदीप उद्धृत वास्तुसार पृ०७५ श्लोक १११
२. मु० चि० १२/५
३. बृ०वा०मा०पृ०८९ श्लोक १४७
४. बृ०सं० ५२/६९–७३

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्र०	दिशा	भाग	देवता	द्वारफल	द्वारनक्षत्र[1]	शुभ अथवा अशुभ
१	पूर्व	प्रथम	शिखि	अग्निभय	कृत्तिका	अशुभ
२	पूर्व	द्वितीय	पर्जन्य	कन्यासंतति, निर्धनता	पू. फा.	मध्यम
३	पूर्व	तृतीय	जयन्त	धनाधिक्य	ज्येष्ठा	**शुभ**
४	पूर्व	चतुर्थ	इन्द्र	राजप्रिय	विशाखा	**शुभ**
५	पूर्व	पंचम	सूर्य	क्रोधाधिक्य	पुनर्वसु	मध्यम
६	पूर्व	षष्ठ	सत्य	असत्यता	पुष्य	अशुभ
७	पूर्व	सप्तम	भृश	क्रूरता	हस्त	अशुभ
८	पूर्व	अष्टम	अन्तरिक्ष	चोरी	आर्द्रा	अशुभ
९	दक्षिण	प्रथम	अनिल	अल्पसंतति	चित्रा	मध्यम
१०	दक्षिण	द्वितीय	पूषा	दासत्व	विशाखा	अशुभ
११	दक्षिण	तृतीय	वितथ	नीचकर्म	रेवती	अशुभ
१२	दक्षिण	चतुर्थ	बृहत्क्षत	अन्नबाहुल्य,पुत्रवृद्धि	मूल	**शुभ**
१३	दक्षिण	पंचम	यम	अशुभ	भरणी	अशुभ
१४	दक्षिण	षष्ठ	गन्धर्व	कृतघ्नता	उ.षा.	अशुभ
१५	दक्षिण	सप्तम	भृंगराज	निर्धनता	अश्विनी	अशुभ
१६	दक्षिण	अष्टम	मृग	पुत्रशक्तिह्रास	अनुराधा	अशुभ
१७	पश्चिम	प्रथम	पितर	पुत्रकष्ट	मघा	अशुभ
१८	पश्चिम	द्वितीय	दौवारिक	शत्रुवृद्धि	उ.भा.	अशुभ
१९	पश्चिम	तृतीय	सुग्रीव	धनपुत्रवृद्धि	उ.फा.	**शुभ**
२०	पश्चिम	चतुर्थ	पुष्पदन्त	पुत्रधनप्राप्ति	उ.षा.	**शुभ**
२१	पश्चिम	पंचम	वरुण	धनसम्पत्ति	विशाखा	**शुभ**
२२	पश्चिम	षष्ठ	असुर	राजभय	शतभिषा	अशुभ
२३	पश्चिम	सप्तम	शोष	धननाश	अश्विनी	अशुभ
२४	पश्चिम	अष्टम	पापयक्ष्मा	रोग	हस्त	अशुभ
२५	उत्तर	प्रथम	रोग	मृत्यु या बन्धन	स्वाती	अशुभ

१. ऋषिगर्ग के मतानुसार द्वारनक्षत्र उद्धृत वास्तुसार पृ० ७७

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

२६	उत्तर	द्वितीय	सर्प	शत्रुवृद्धि	आश्लेषा	अशुभ
२७	उत्तर	तृतीय	मुख्य	पुत्रधनलाभ	अभिजित्	शुभ
२८	उत्तर	चतुर्थ	भल्लाट	सद्गुण सम्पत्ति	मृगशिरा	शुभ
२९	उत्तर	पंचम	सोम	पुत्रधनप्राप्ति	श्रवण	शुभ
३०	उत्तर	षष्ठ	भुजंग	पुत्रद्वेष	ज्येष्ठा	अशुभ
३१	उत्तर	सप्तम	अदिति	स्त्रीदोष	भरणी	अशुभ
३२	उत्तर	अष्टम	दिति	निर्धनता	रोहिणी	अशुभ

विशेष —

बृहत्संहिता में एक्यासी पद वास्तु के अनुसार भी द्वार स्थापना की गयी है। विशेषकर गृह वास्तु में एकाशीति पद वास्तु से ही द्वार का विचार करना चाहिए। चौसठ पद वास्तु से धार्मिक वास्तु के द्वार का निर्णय करना चाहिए। द्वार एवं गृहपति के नक्षत्र से तारा की अनुकूलता का विचार कर द्वारनिश्चय करना श्रेयस्कर रहता है।

राशि के अनुसार गृहद्वारविचार[1] —

राशि	प्रशस्तदिशा
कर्क, वृश्चिक, मीन	पूर्व
वृष, कन्या, मकर	दक्षिण
मिथुन, तुला, कुम्भ	पश्चिम
मेष, सिंह, धनु	उत्तर

भित्तिवश द्वारविचार —

गृह की लम्बाई अथवा चौड़ाई में ९ का भाग देकर लब्धि तुल्य ९ खण्ड़ बनेंगे। यदि पूर्व दिशा में द्वार बनाना अभीष्ट हो तो बांयी ओर के २ खण्ड़ को छोड़कर तीसरे व चौथे खण्ड़ में द्वार बनाएं। दक्षिण दिशा में द्वार बनाना अभीष्ट हो तो चौथे व छठें खण्ड़ में, पश्चिम एवं उत्तर दिशा में चौथे व पाँचवे खण्ड़ में द्वार बनाना शुभ है। अथवा सभी दिशाओं में चौथे खण्ड़ में द्वारस्थापना शुभ है। द्वार की ऊँचाई २ खण्ड़ों के बराबर होनी चाहिए।[2]

---

१. बृ०वा०मा० पृ०८९ श्लोक १४५

२. तत्रैव पृ० ९० श्लोक १४७

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशावश द्वारविचार[1] —

क्र०	दिशा	द्वारनाम	फल
१	पूर्व	विजय	शुभ
२	दक्षिण	यम	अशुभ
३	पश्चिम	मकर	सामान्य शुभ
४	उत्तर	कुबेर	शुभ

द्वारप्रमाण—

१. **बृहत्संहिता** के अनुसार चातुर्वर्ण्य के लिए द्वारप्रमाण निम्न प्रकार से हैं[2] —

गृह द्वार चौड़ाई प्रमाण =(गृहचौड़ाई ÷ ५ + १८) + ((गृहचौड़ाई ÷५ +१८) ÷८)

तथा द्वारचौड़ाई × ३= द्वार की लम्बाई।

उदाहरण — ब्राह्मण गृह की चौड़ाई = ३२ हाथ

अत: गृहद्वार की चौड़ाई प्रमाण = (३२ ÷ ५ + १८) + ((३२ ÷५ +१८) ÷८) = २७.४५ अंगुल हुआ अत: स्वल्पान्तर से २७ ग्रहण किया। २७ ×३ = ८१ अंगुल द्वार की लम्बाई हुई।

विशेष —

उपर्युक्त प्रकार से गृह के द्वार की लम्बाई ८१ अंगुल हुई अर्थात् लगभग ५ फीट इस आधार पर चौड़ाई १ फीट ८ इंच प्राप्त होगी है। यह द्वार की लम्बाई व चौड़ाई तर्कसंगत नहीं दिख रही है। वस्तुत: द्वार चौड़ाई में गृह की चौड़ाई को अंगुलात्मक मानकर जोड़ना चाहिए। तब द्वारचौड़ाई २७+३२=५९ अंगुल अथवा ३ फीट ९ इंच लगभग होगी। द्वार की लम्बाई इसके तिगुना अर्थात् ११फीट लगभग होगी परन्तु वर्तमान परिस्थितिवश उपर्युक्त लम्बाई कुछ अधिक है। अत: त्रिगुणित के स्थान पर द्विगुणित समुचित प्रतीत होता है। तदनुसार लम्बाई ७ फीट ६इंच प्राप्त होती है। यह माप समसामयिक है। अत: सम्प्रति यही मान ग्रहण करना चाहिए।

२. इसी प्रकार **मत्स्यपुराण के गृहमाननिर्णयाध्याय** के अनुसार [3] —

गृह द्वार की चौड़ाई प्रमाण =(गृहचौड़ाई ÷ ५ + १८)

तथा द्वारचौड़ाई × २ = द्वार की लम्बाई या ऊँचाई।

१. भवनभास्कर पृ० ५६ — ५७

२. बृ० सं० ५२/२५

३. उद्धृत वास्तुसार पृ० ५० वा०वि०प्र० श्लोक १५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उदाहरण — ब्राह्मण गृह की चौड़ाई = ३२ हाथ

अत: गृहद्वार चौड़ाई प्रमाण = (३२ ÷ ५ + १८) = २४ अंगुल स्वल्पान्तर से २ फीट।

२×२ = ४ फीट लगभग द्वार की लम्बाई या ऊँचाई।

विशेष—

उपर्युक्त मान अव्यवहारिक है। वस्तुत: द्वार चौड़ाई के सूत्र में गृह चौड़ाई का योग भी आवश्यक है। तब द्वार की चौड़ाई = २४ + ३२ = ५६ अंगुल अथवा ३ फीट ६ इंच। अत: द्वार लम्बाई ५६ × २ = ११२ अंगुल अथवा ७ फीट होती है।

३. **बृहत्संहिता** के अनुसार चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त राजा, सेनापति आदि के लिए द्वारप्रमाण निम्न हैं[१] —

गृह द्वार ऊँचाई प्रमाण =(गृहचौड़ाई + गृहचौड़ाई ÷११ + ७०)

तथा द्वार चौड़ाई = द्वार की ऊँचाई ÷२ ।

उदाहरण — राजा के घर की चौड़ाई = १०८ हाथ।

अत: गृह द्वार ऊँचाई प्रमाण =(१०८ + १०८ ÷११ + ७०) = १८८ अंगुल लगभग। आधुनिक मान से ११ फीट ९ इंच लगभग। तथा द्वारचौड़ाई = १८८ ÷२ = ९४ अंगुल लगभग ६ फीट।

द्वार स्थापन के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु

● लम्बाई अथवा चौड़ाई में ही द्वार बनाना शुभ है। कोणों में द्वार स्थापन अशुभ कहा गया है।[२]

● दीवार के मध्य में भी द्वार स्थापन नहीं करना चाहिए। साथ ही द्वार के ऊपर द्वार तथा द्वार के सम्मुख भी द्वार नहीं बनाना चाहिए।[३]

● मार्ग, वृक्ष, कोना, कूप, स्तम्भ(खम्भा) एवं नाली के सामने द्वार अशुभ होता है। इसे ही द्वार वेध कहते हैं किन्तु दरवाजे की ऊँचाई से दुगुनी दूरी पर उंक्त वस्तु आदि होने पर वेध दोषकारक नहीं होता है।[४]

● इसी प्रकार कुलालचक्र (चक्की,कुम्हार का चक्का इत्यादि), कीचड़, देवमन्दिर इत्यादि से वेधित गृहमुख या द्वार अशुभ होता है परन्तु दरवाजे की ऊँचाई से दुगुनी दूरी पर उक्त वस्तु आदि होने पर वेध दोषकारक नहीं होता है।[५] बृहत्संहिता के अनुसार द्वारवेध होने पर शुभाशुभ फल निम्नप्रकार से जानना चाहिए[६]—

१. बृ० सं० ५२/५४
२. बृ०वा०मा० पृ० ९० श्लोक १४८
३. तत्रैव
४. बृ०सं० ५२/७४
५. मु०मा० ६/१०
६. बृ०सं० ५२/७५—७६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्र०	वेधवस्तु	शुभाशुभ फल
१	रास्ता, गलियारा	गृहस्वामी का नाश
२	वृक्ष	घर के बालकों के लिए दोष
३	कीचड़ व जलस्थान	शोककारक
४	नली	धनव्यय
५	कुआँ	मानसिक अस्थिरता, मिर्गी रोग
६	देवप्रतिमा	गृहस्वामी विनाश
७	स्तम्भ (खम्भा)	स्त्रियों के लिए दोष
८	ब्रह्मस्थान (गृहमध्य)	कुलनाश
९	ब्राह्मण गृह	कुलनाश

इसी प्रकार द्वार (कपाट) सम्बन्धि दोष निम्न हैं[१] —

क्र०	द्वार (कपाट) सम्बन्धि दोष/उपद्रव	शुभाशुभ फल
१	स्वयमेव किवाड़ खुलना	उन्माद, भ्रम
२	स्वयमेव किवाड़ का बन्द होना	कुलनाश
३	मान से अधिक द्वार	राजभय
४	नाप से कम द्वार	चोरभय, दुःख, विपत्ति
५	द्वार के ठीक ऊपर अन्य द्वार	अशुभ, संकट
६	द्वार व कपाट की चौड़ाई कम या अधिक	क्षुधा व पीड़ाकारक
७	टेढ़ा—मेढ़ा या झुका द्वार या कपाट	कुलनाश
८	कपाटों में जोड़	पीड़ाकारक
९	गृह में भीतर की ओर झुका द्वार	धन जन की हानि

१. तत्रैव श्लोक ७७—७९

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

१०	बाहर की ओर झुका द्वार	प्रवास
११	अन्य दिशा में झुका या खुला द्वार	दस्युभय,चौरभय

समरांगणसूत्रधार के अनुसार द्वारवेध होने पर शुभाशुभ फल निम्नप्रकार से जानना चाहिए[१] —

क्र०	वेधवस्तु	शुभाशुभ फल
१	चौराहे की गली, बांबी	प्रवास, सेवक द्वेष
२	ध्वजा	द्रव्यनाश
३	वृक्ष	शिशु कष्ट
४	कीचड़	शोक
५	जल	व्यय
६	कूप	मिर्गीरोग
७	देवमन्दिर	विनाश
८	खम्भा	स्त्रीदूषण
९	ब्रह्मविद्ध	कुलनाश
१०	प्रमाण से अधिक द्वार	राजभय
११	प्रमाण से कम द्वार	चौरभय, व्यसन
१२	श्वभ्र (गड्ढ़ा)	व्याधि, धनक्षय
१३	देवध्वज	बन्धनभय, ऐश्वर्यनाश
१४	वापी(बावड़ी),शिला	सन्निपात
१५	कुलालचक्र(कुम्हार का चक्का)	हृदयरोग
१६	जल, छाया	दारिद्रय
१७	कचकूट(कूड़ाघर)	रोग व व्याधि
१८	आपानक(मद्यशाला)	पुत्रनाश

१. समरांगणसूत्रधार ४८/ ८३–९०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

१९	उदूखल(ओखली)	निर्धनता
२०	जलकुम्भ	दुर्मन्त्री
२१	भस्म	बवासीर आदि रोग

● मुख्य द्वार के रूप व सौन्दर्य (साज – सज्जा) के समान घर के शेष द्वारों को नहीं बनाना चाहिए। मुख्य द्वार को कुम्भ, फल, पल्लव, शिवगण, नारियल, लता, सिंह, सर्प, हंस आदि की प्रतिकृतियों से सुसज्जित करना चाहिए। मुख्य द्वार के अलावा अन्य सभी द्वारों एवं खिड़कियों के ऊपर किनारे सदैव एक ही सीध में, समान ऊँचाई पर एक सरल रेखा में रखे जाने चाहिए।[1]

● देवमन्दिर ,यज्ञमण्डप, सभागार, सार्वजनिक भवन, स्मारक आदि में चारों दिशाओं में द्वार बनाये जा सकते हैं परन्तु जनसामान्य के निवास योग्य भवन का द्वार पूर्व या उत्तर में श्रेष्ठ, पश्चिम में सामान्य तथा दक्षिण में निषिद्ध है। द्वार के ऊपर द्वार बनाना भी अशुभ है परन्तु यह नियम बहुमंजिले भवनों के लिए अनुपयुक्त प्रतीत होता है।[2]

● भूखण्ड़ के कटान या विस्तार के भाग में मुख्य द्वार नहीं बनाना चाहिए।[3]

● कमजोर, टेढ़ा–मेढ़ा, खराब, बहुत ऊँचा, भयंकर, ढ़ीला, अत्यधिक फैला हुआ, विशाल, टेढ़ा, फैलाया हुआ, अग्रभाग स्थूल, मध्यभाग छोटा या पतला, अपने आप चलने वाला, छोटा, मुखानत, बगल से निकला हुआ एवं सूत्रमार्ग भ्रष्ट – ऐसे द्वार अशुभ होते हैं।[4]

● द्वार स्थापन के समय ध्यान रखें कि भीतर के द्वार से बाहर का द्वार न तो ऊँचा रहे और न संकरा ही हो। द्वार के मध्य भाग में पट्टसन्धि नहीं होनी चाहिए। दरवाजे पर तुला या उपतुला (बीम) टेढ़ी नहीं होनी चाहिए।[5]

● जहाँ तक सम्भव हो सके कपाट दो पल्ले वाला बनवाना चाहिए। कपाट अन्दर की ओर खुलने वाले शुभ होते हैं।[6]

द्वारस्थापना मुहूर्त

● क. चक्रशुद्धि –

द्वारचक्र[7] – गृहद्वारस्थापनदिवस के सूर्यनक्षत्र से चन्द्रनक्षत्र तक गिनकर निम्नचक्रानुसार फल जानना

१. बृ०सं० ५२/८० , भा०वा०शा० पृ० १०६
२. भारतीय वास्तुशास्त्र पृ० १०३, १६९
३. तत्रैव पृ० १०४
४. समरांगण सूत्रधार ४८/९१–९३
५. तत्रैव श्लोक ९४–९६
६. भारतीय वास्तुशास्त्र पृ० १३६
७. मु०चि० १२/२९

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चाहिए —

स्थान	शिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
नक्षत्र	१—४	५—१२	१३—२०	२१—२३	२४—२७
फल	लक्ष्मीप्राप्ति	उद्वास	सौख्य	मरण	सुख

देहलीचक्र[1]— मंगल स्थित नक्षत्र से द्वारस्थापनदिन के चन्द्रनक्षत्र तक गिनकर निम्नलिखितचक्रानुसार फल जानना चाहिए —

स्थान	मूल	गर्भ	मध्य	पुच्छ	पृष्ठ
२८नक्षत्र	१—३	४—८	९—१२	१३—२०	२१—२८
फल	स्वामीमरण	सुख	धनपुत्रादिसुख	हानिभाग्यवृद्धि	भाग्यवृद्धि

● **ख. शुभनक्षत्र** — अश्विनी, उ०षा०, उ०फा०, उ०भा०, हस्त, पुष्य, श्रवण, मृगशीर्ष, रोहिणी, स्वाती एवं रेवतीनक्षत्र।[2] मुहूर्तमुक्तावली के अनुसार — रेवती, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अश्विनी, चित्रा, स्वाती व पुनर्वसुनक्षत्र प्रशस्त हैं।[3]

● **ग. शुभवार** — गुरु, चन्द्र, शुक्र, रवि एवं बुधवार द्वारस्थापनार्थ शुभ हैं।[4] कुछ विद्वान् केवल शुभवारों (गुरु, चन्द्र, शुक्र व बुधवार) को ही ग्राह्य मानते हैं।

● **घ. शुभतिथि** — बृहद्वास्तुमाला में द्वारस्थापनार्थ ५, ७, ८, ९, तिथियाँ प्रशस्त तथा १, २, ३, ४, ६, १०, १५ व ३० तिथियाँ अशुभ कही गई हैं।[5] मुहूर्तमुक्तावली[6] के अनुसार — नन्दा (१, ६, ११), पूर्णा (५, १०, १५) एवं जया (३, ८, १३) तिथियों में द्वारस्थापन शुभ होता है।

● **शुभलग्न** — स्थिरलग्न (वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भलग्न) द्वारस्थापनार्थ शुभ हैं।[7] द्वारस्थापना में ग्रहों का प्रतिदिवसीय अस्तदोष, मित्रत्व, नीचत्वादि दोष नहीं होता है।[8]

---

१. ज्यो०नि० पृ०१६५
२. बृ०वा०मा० गणनाविचार पृ० ९७ श्लोक १६४
३. तत्रैव पृ० ९८ श्लोक १६८
४. तत्रैव श्लोक १६९
५. तत्रैव श्लोक १६५—१६७
६. तत्रैव श्लोक १६८
७. वास्तुसार गृ०नि०प्र० श्लोक १४३
८. तत्रैव श्लोक १४५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कपाट(किवाड़)मुहूर्त[१] —

नक्षत्र	उ०फा०, उ०भा०, उ०षा०, रोहि०, चित्रा, स्वा०, पुन०, श्रव०, धनि०, शत०।
वार	बुधवार व शुक्रवार।
तिथि	१, २, ३, ५, ७, १०, ११, १३ एवं १५।
लग्न	मिथुन, कन्या, धनु व मीनलग्न।

भारतीय वास्तुशास्त्र मूलत: भारतभूमि, भारतीय संस्कृति व परिवेष तथा ज्योतिश्शास्त्र, के समन्वय के साथ गृहनिर्माण पद्धति को प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार भारतीय दर्शन है। भारतीय वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने जहाँ इसे शास्त्रीय कलेवर प्रदान किया वहीं स्थपतियों ने इसे भौतिक स्वरूप दिया। उन्होंने कला एवं विज्ञान के इस सम्मिश्रण को अध्यात्म से जोडकर उसे पूर्णता प्रदान की। कला एवं विज्ञान, ये दोनों भौतिकवादी आसुरी सम्पदाएं बनकर जगविध्वंस न करें, अत: प्राचीनाचार्यों ने इसे देवत्व की भावना से अनुप्राणित कर जनसंरक्षण एवं कल्याणकारी बनाया। इस प्रकार भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि पर पंचमहाभूतों के संतुलन, ग्रह— नक्षत्रों की उर्जा एवं गुरुत्वाकर्षण, पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति आदि के समुचित प्रबन्धन के आधार पर मनुष्य की शारीरिक मानसिक क्षमताओं को उन्नत करने का प्रयास ही वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों एवं नियमों के रूप में आबद्ध है। वास्तुशास्त्र का उद्देश्य भवन निर्माण की उच्चकोटि की प्रविधि का प्रतिपादन करना है, जिससे निर्मित वास्तु क्षेत्र मे रहने वाले अथवा कार्य करने वाले कर्मचारियों का तन, मन और जीवन स्वत: स्फूर्त हो सके। इन्हीं सिद्धन्तों एवं नियमों के आधार पर निर्मित देवमन्दिर, राजमहल, प्राचीन दुर्ग इत्यादि आज भी विश्व को मंत्रमुग्ध करने के साथ ही अभ्यागतों को मानसिक सुख व शान्ति की अनुभूति प्रदान करते हैं।

---

१. बृ०वा०मा० गणनाविचार श्लोक १७०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तु में मण्डप विधान

–डा. देशबन्धु शर्मा

वास्तुशास्त्र वैदिक ज्योतिषशास्त्र की एक समृद्ध और विकसित शाखा है। "वस् निवासे" धातु से तुण प्रत्यय करने पर वास्तु शब्द की निष्पत्ति होती है।[1] वास्तुकला का प्रयोग वैदिककालीन यज्ञों मे यज्ञ-वेदी के निर्माण के लिए किया जाता था।[2] यही यज्ञ-वेदी कालान्तर में मंदिर-निर्माण की आधारशिला बनी।[3] और यही भारतीय मन्दिर भारतीय वास्तुकला के मुकुटमणि है। भारतीय स्थापत्य का विस्तार यज्ञ-वेदी से आरम्भ कर देव-प्रसाद के शिखर पर्यन्त है।

प्र उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर प्रासाद शब्द की निष्पत्ति होती है।[4] प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति **"प्रसीदन्त्यस्मिन्निति प्रासादः।**[5] और **प्रकर्षेण सादनं चयनं वा प्रासादः"**[6] के रूप में प्राप्त होती है। अतएव प्रासाद निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामग्री के चयन के सम्बन्ध में विशेष अवधान दिया जाता था।

मन्दिर के प्रत्येक अंग जैसे मण्डप, जगती, शिखरादि का निर्माण वास्तुसम्मत होता था। मन्दिर में मण्डप-विधान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मण्डपनिर्माण की प्रथा न केवल देवप्रासादों में अपितु राजप्रासादों और साधारण गृहों में भी थी।[7] मण्डप का ही अन्य नाम देवायतन भी है। देवायतनप्रतिष्ठा व मण्डपविधान का न केवल सांस्कृतिक महत्त्व अपितु व्यावाहारिक उपयोगिता भी कम नहीं है। प्राचीनकाल में इन्हीं देवायतनों में अनेक प्रकार की शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाएँ चलती थीं। इसी कारण से मन्दिर उस समय धर्म-जिज्ञासा रखने वाले लोगों की जिज्ञासा-पूर्ति के स्थान थे। इन मन्दिरों में रहने वाले देव-पूजक शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ और ज्योतिषशास्त्र में पारङ्गत होते थे। धार्मिक जनसमूह मन्दिर में होने वाले पुराण-पारायण, भजन-संकीर्तन, कथा-वार्ता और प्रवचनादि में श्रद्धा-पूर्वक सम्मिलित होते थे। नगरों में मन्दिर शिक्षा, दीक्षा, धर्म, अध्यात्म, चिन्तन, योगादि के केन्द्र थे। नगर के अनेक छात्र मन्दिर परिसर में अन्तेवासी थे। वहाँ पर वे वेदशास्त्र-पुराण-काव्यादि का अध्ययन करते थे। विशेष उत्सवों पर मन्दिर में होने वाले विभिन्न कार्यक्रमों में स्थानीय लोग

---

1. वाचस्पत्यम् - भाग 6, पृष्ठ-4888
2. ऋग्वेद-10/121
3. भारतीय स्थापत्य-पृष्ठ-239
4. वाचस्पत्यम्-भाग 6, पृष्ठ-4530
5. शब्दकल्पद्रुम-भाग 3, पृष्ठ-365
6. भारतीय स्थापत्य-पृष्ठ 209
7. मयमतम्-25/2-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते थे। इन सभी कार्यक्रमों का स्थान मन्दिरों के मण्डप ही होते थे। अतएव मन्दिर में मण्डप का महत्त्व अक्षुण्ण है। मण्डप शब्द से अभिप्राय: मण्ड अर्थात् अलङ्कार और पाति अर्थात् रक्षति। अत: अलङ्कारों की रक्षा करने वाला। यथोक्तम्– **"मण्डं सुभूषणं तं पातीति मण्डपमिष्यते"**।।[8] अमरकोश में मण्डप शब्द का परिचय**"मण्डपोऽस्त्री जनाश्रय:"**[9] इस प्रकार दिया गया है। अर्थात् मण्डप तीर्थयात्रियों और मन्दिर दर्शनार्थियों के, आश्रय-स्थान हैं।

मण्डप-विन्यास का प्रमुख वैशिष्ट्य मण्डपों में होने वाला स्तम्भ निवेश है। मण्डपों के स्तम्भों पर की जाने वाली चित्रपूर्ण आकृतियाँ किसके मन का हरण नहीं करती थी? मन्दिरों में दीपक-तोरण-गजतालु-घण्टा-पद्मादि मण्डपों के अलंकार थे। मण्डपों के दो वर्ग हैं–

1. संवृतमण्डप
2. विवृतमण्डप

मन्दिर से संयुक्त रूप से विन्यस्त मण्डप को संवृतमण्डप और मन्दिर से पृथक् विन्यस्त मण्डप को विवृतमण्डप कहा जाता है। उत्तरापथीय मन्दिरों में संवृतमण्डपों का बाहुल्य है और दक्षिणापथीय प्रासादों में संवृत-विवृत दोनों प्रकार के मण्डप दृष्टिगोचर होते हैं। कालान्तर में धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ अभिरञ्जन के लिए भी प्रासादों में नृत्यमण्डप-रङ्गमण्डप-नाट्यमण्डप-सङ्गीतमण्डप-द्यूतमण्डपादि की निर्माण परम्परा भी प्रचलित हो गई। मण्डप-निर्माण में एक विशेष नियम यह है कि कभी भी मण्डप की उच्छ्रिति मन्दिर से अधिक नहीं होनी चाहिए। मण्डपों के बहुत से भेद हैं और भेद का मुख्य कारण मण्डपों की स्तम्भ-संख्या में भेद है। जिस प्रकार शतमण्डप में सौ स्तम्भ और सहस्र-मण्डप में हजार स्तम्भ होते हैं। पुन: शतमण्डप के भी कई भेद हैं। यथा[10]–

1. सूर्यकान्त शतस्तम्भ मण्डप
2. चन्द्रकान्त शतस्तम्भ मण्डप
3. इन्द्रकान्त शतस्तम्भ मण्डप
4. गन्धर्वकान्त शतस्तम्भ मण्डप
5. ब्रह्मकान्त शतस्तम्भ मण्डप

मत्स्यपुराण में संवृतमण्डपों की एक सूची का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें पुष्पकादि 27 (सताईस) मण्डपों का वर्णन है। जिनके नाम– पुष्पक, पुष्पभद्र, सुब्रत, अमृत-नन्दन, कौसत्य, बुद्धिसङ्कीर्ण, गजभद्र, जयावह, श्रीवत्स, विजय, वास्तुकीर्ति, श्रुतिञ्जय, यज्ञभद्र, विशाल, सुश्लिष्ट,

8. मयमतम्-25/26
9. अमरकोश-2/2/9
10. प्रासाद निवेश-पृष्ठ 224

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शत्रुमर्दन, भागपञ्च, नन्दन, मानव, मानभद्रक, सुग्रीव, हरित, कर्णिकार, शतर्धिक, सिंह, श्यामभद्र, सुभद्रादि हैं।[11] इन सभी मण्डपों की स्तम्भसंख्या में भेद है। पुष्पक मण्डप में 64 (चौंसठ) स्तम्भ होते हैं और उसके बाद प्रतिमण्डप में क्रमशः दो स्तम्भों का ह्रास होता है और सुभद्र मण्डप में केवल 12 स्तम्भ ही होते हैं।[12] आचार्य मयासुर ने सोलह चतुष्कोण और आठ आयतास्त्र मण्डपों का वर्णन किया है।[13] "क्षीरार्णव" में प्राग्वादि और विजयादि मण्डपों का वर्णन प्राप्त होता है। दो-दो स्तम्भ की वृद्धि से मण्डपों के पुष्पकादि भेद होते हैं। यथा–

प्राग्वादि विजयाचाद्यं मण्डपा उक्तमानतः।
द्विस्तम्भस्ततो वृद्धि मंडपा पुष्प उच्यते।।[14]

विश्वकर्माप्रकाश में भी चल और स्थिर मन्दिरों के चौंसठ मण्डपों का उल्लेख है।[15] वास्तुशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में इन मण्डपों के निर्माण का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। क्षीरार्णव में मण्डप के सप्त प्रमाण सूत्रों का वर्णन है। जिसके अनुसार प्रथम मण्डप का मान प्रासाद के मान तुल्य, दूसरे मण्डप का मान प्रासाद के मान से सपाद-गुणित, तीसरे मण्डप का मान प्रासाद के मान से सार्धगुणा, चौथे मण्डप का मान प्रासाद के मान से पौने दो गुणा, पाँचवे मण्डप का मान प्रासाद के मान से दो गुणा, छठें मण्डप का मान प्रासाद के मान से सवा दो गुणा और सांतवे मण्डप का मान प्रासाद के मान से ढाई गुणा होता है। यथोक्तम्–

प्रथमे सम सपाद सार्द्धं च पादोनद्वयम्।
द्विगुणं चाऽपि कर्तव्या सपाद द्वयमेव च।
सार्द्धं द्वयं तु कर्तव्यं अत ऊर्ध्वं न कारयेत्।
सप्तधा प्रमाण सूत्रं वास्तुविद्भिरुदाहृतम्।[16]

देवप्रासाद के हस्तात्मक मान के कारण भी मण्डप के हस्तात्मक मान में अन्तर होता है।[17] सान्धार और निरन्धार प्रासादों में मण्डप के स्तम्भों के प्रमाण में भी अन्तर होता है। मण्डप के नरथरादि का निर्माण भी प्रमाणानुसार होता है। एक सौ बारह स्तम्भों वाले दो-तीन-चार और पाँच भूमि वाले मण्डप की संज्ञा मेरूमण्डप है। तदनन्तर क्रमशः दो-दो स्तम्भों का उत्तरोत्तर ह्रास होने पर पच्चीस मण्डपों का निर्माण किया जाता है।[18] इन्हीं को मेर्वादिपंचविंशतिमण्डप कहते हैं। मण्डपों की दूसरी भूमि का निर्माण मन्दिर के तुल्य और तीसरी भूमि मन्दिर के स्कन्ध पर्यन्त होती

11. मत्स्यपुराण-270/2-6
12. मत्स्यपुराण-270/7-14
13. मयमतम्-25/6-11
14. क्षीरार्णव-116/3
15. विश्वकर्मप्रकाश-4/41
16. क्षीरार्णव-116/5-6
17. क्षीरार्णव-116/7-8
18. क्षीरार्णव-116/35-36

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है। यथोक्तम्–

अतः प्रासादतुल्या च द्वितीया भूमिरुर्ध्वतः।
तृतीया च प्रकर्तव्या प्रासाद स्कन्धहीनक।।
मत्तवारणच्छाद्यं च संवरणाः वितानकम्।
प्रासादस्याग्रतः कार्या बलाणकस्य चोपरिः।।[19]

इसी प्रकार से "क्षीरार्णव" में आठ गूढ़ मण्डपों का उल्लेख है जो इस प्रकार है– वर्धमान, स्वस्तिक, गरुड़, सुरनन्दन, सर्वतोभद्र, कैलास, इन्द्रनील, रत्नसंभवादि। छः अन्य मण्डपों– शिवनाद, हरिनाद, ब्रह्मनाद, रविनाद, सिंहनाद और मेघनाद का भी वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि छः महामण्डपों में सभी देवताओं की प्रतिष्ठा हो सकती है परञ्च मण्डप के नाम सदृश देवता की प्रतिष्ठा प्रशस्त कही गई है।[20] मन्दिर की जगती के आगे किये जाने वाले मण्डप को मुख-मण्डप कहा जाता है। इसी प्रकार सभी देवालयों में गर्भगृह के आगे भी मण्डप का निर्माण आवश्यक रूप से किया जाता है। यथोक्तम्–

कर्णगूढा विलोक्याश्च एकत्रिद्वारसंयुताः।
प्रासादाग्रे प्रकर्तव्याः सर्वदेवेषु मण्डपाः।।[21]

मण्डप के स्तम्भपट्टादि गर्भगृह के स्तम्भपट्टादि के अनुसार ही होने चाहिए। इससे अधिक मान भयकारक होता है। इसी प्रकार से मण्डप का घण्टा शुकनास के तुल्य हो। मन्दिर के दसवें-ग्यारहवें और बारहवें अंश तक स्तम्भों का मान रखना चाहिए। मण्डप के स्तम्भ चार आठ, बारह और बीस कर्ण वाले अथवा वृत्ताकार होने चाहिए।[22] प्राग्ग्रीवमण्डप में मन्दिर के आगे दो स्तम्भों की एक वेदिका का निर्माण किया जाता है।[23] गूढमण्डप के आगे एक, तीन, चार, छः, सात और नौ भद्र वाले छः मण्डप होते हैं। मण्डप के आगे की रङ्गभूमि में नृत्यमण्डप का निर्माण होता है।[24] मण्डप के वितान का उदयमान के विषय में प्रासादमण्डन में वर्णन प्राप्त होता है–

अष्टास्त्रं षोडशास्त्रं च वृत्तं कुर्यात् तदूर्ध्वतः।
उदयं विस्तरार्धेन षट् पञ्च सप्त वा भवेत्।।[25]

वितानों के एक हजार भेदों का वर्णन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आचार्य मयासुर के अनुसार स्तम्भ के पाँच भाग करने चाहिए और उनमें से दो भाग का अधिष्ठान होता है। उपपीठ

---

19. क्षीरार्णव–116/48–49
20. क्षीरार्णव–116/51–57
21. प्रासादमण्डन–7/2
22. प्रासादमण्डन–7/14
23. प्रासादमण्डन–7/15–17
24. प्रासादमण्डन–7/22–25
25. प्रासादमण्डन–7/29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की उच्छ्रिति अधिष्ठान के तुल्य, उससे दो गुनी या तीन गुनी रखनी चाहिए।[26] मण्डप का लक्षण इस प्रकार आचार्य मय ने बताया है–

अधिष्ठानोपरिस्तम्भं प्रस्तरं च त्रिवर्गकम्।
कपोतप्रतिसंयुक्तं यत्तन्मण्डपमिष्यते।।[27]

मण्डप का उपरि तल "मालिका मण्डप" कहलाता है। दो तल वाला मण्डप होने पर शिखरयुक्त मण्डप का निर्माण करना चाहिए। इसी प्रकार से मेरुक–विजयम्–सिद्धम्–यागमण्डपादि का भी वहाँ पर वर्णन प्राप्त होता है।[28] मण्डप का आयाम विस्तार से अधिक होना चाहिए। यथोक्तम्–

मण्डपानां तु विस्तारादायामं प्रविधीयते।
जातिरूपं तु पूर्वोक्तं छन्दमेकं द्विभक्तिकम्।
विकल्पं त्र्यंशकं प्रोक्तमाभासं चतुस्त्रक्रम्।
दण्डकं स्वस्तिभद्रं च पद्मं क्रकरभद्रकम्।[29]

मण्डप के मुख भाग में निर्मित मण्डप "मुख मण्डप" कहलाता है। इस मण्डप के अधिष्ठान और स्तम्भादि मण्डप के समान ही होते हैं।[30] मत्स्यपुराण में मण्डपों की स्थापना त्रिकोण–वृत्ताकार और अष्टकोणात्मक वर्णित है। यथोक्तम्–

मण्डपाः कथितास्तुभ्यं यथावल्लक्षणान्विताः।
त्रिकोणं वृत्तमर्धेन्दुमष्टकोणं द्विरष्टकम्।।[31]

मण्डप के द्वार कनिष्ठ–मध्यम और ज्येष्ठ भेद से तीन–पाँच–सात और नौ शाखाओं से युक्त होते हैं।[32] अपराजितपृच्छा में पुष्पकादि सताईस मण्डपों के लक्षण और निर्माणविधि वर्णित है।[33] वर्धमानादि, सुभद्रादि, प्राग्ग्रीवादि–मेवादि और नन्दनादिमण्डपों के लक्षण और निर्माणविधि की वहाँ विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। वस्तुतस्तु मण्डप का मूल वैदिक सदस् ही है जो कालान्तर में मण्डप के रूप में परिवर्तित हो गया। मण्डप के निर्माण विषयक सिद्धान्तों का अनुपालन करके वास्तुसम्मतमण्डप का निर्माण देवालयों में करना चाहिए।

---

26. मयमतम्–25/20–24
27. मयमतम्–25/25
28. मयमतम्–25/26–42
29. मयमतम्–25/170–171
30. मयमतम्–25/188–189
31. मत्स्यपुराण–270/15
32. मत्स्यपुराण–270/21
33. अपराजितपृच्छा–186/1–25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र में खात विधान

–डॉ. सुभाष चन्द्र मिश्र

प्राय: सभी शास्त्रों की उत्पत्ति के मुख्य श्रोत वेद हैं, ऐसा सर्व विदित हैं। ''कात्यायनचरणव्यूह'' के अनुसार ''स्थापत्य'' को अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित् किया गया है, जो समस्त कलाओं के उद्गम स्थल हैं।

''**वेदाङ्गं ज्योतिषं चक्षुः**'' अर्थात् वेद पुरुष के षडाङ्गो में ज्योतिषशास्त्र को चक्षु के रूप में परिभाषित किया गया है। वैदिककाल से ही ज्योतिषशास्त्र मानव जीवन के विविध पक्षों पर अतिसूक्ष्मता से विचार करता आ रहा है, मानव सभ्यता के विकास के साथ-2 ही विविध रूपों मे इस विद्या का भी विकास होता गया, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति के जीवन में घटने वाली अनेक घटनाओं, प्राकृतिक आपदाओं, मानव जीवन में होने वाली विभिन्न समस्यायों, भूमिगत पदार्थों की जानकारी, सुख एवं शान्ति की प्राप्ति के साथ-साथ इस शास्त्र ने मानव जीवन में पुरुषार्थ चतुष्ट्य की कामना को साकार करने में अपेक्षित योगदान दिया है, वेद पुरुष के तीन तन्त्र ही ज्योतिषशास्त्र के तीन भाग हैं जिन्हें हम (1) सिद्धान्त, (2) संहिता एवं (3) होरा, के नाम से जानते हैं। ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त, संहिता तथा होरा में से संहिता विभाग के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र का विस्तृत विवेचन मिलता है यह पुरुषार्थ चतुष्ट्य के साधन का महत्वपूर्ण अङ्ग हैं, अत: व्यक्ति को अपने जीवन में गृह का निर्माण अवश्य करना चाहिए जैसा कि भविष्य पुराण में वर्णित है:-

गृहस्थस्य क्रिया सर्वाः न सिद्ध्यति गृहं विना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयौ ब्रुवे॥[1]

गृह का निर्माण व्यक्ति के जीवन में भौतिक उपयोगिता के साथ-साथ अध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करता है।

वस्- निवासे धातु से वास्तु शब्द की उत्पत्ति हुई है, यह निवासयोग्य भूखण्ड तथा गृह का बोधक है[1] यह भी कहा जाता है, कि जहाँ देवता, मानव, पशु आदि सभी निवास करते हैं उसे ''वास्तु'' कहते हैं। यहाँ पर वास्तु के सन्दर्भ में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं जिसको ''अवास्तु'' तथा ''सुवास्तु'' कहते हैं। जहाँ अवास्तु शब्द गृहाभाव[1] के अर्थ में प्रयुक्त होता है वही ''सुवास्तु[2] शब्द शोभन गृह के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है।

1. वास्तुसौख्यम् 1/7।
2. ऋग्वेद 8.19.36
3. अथर्ववेद 12.7.7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह का महत्व

अथर्ववेद की "पिप्लाद शाखा" में वर्णित है कि गृह उर्जा के स्रोतों से सम्पन्न हो तथा इसमें निवास करने वाले दुग्ध आदि पौष्टिक सम्पूर्ण पदार्थों से युक्त होकर शक्ति सम्पन्न हों एवं मैत्री भाव के साथ निवास करके मधुर सम्बन्धों के साथ भूख प्यास से पीड़ित हुए बिना निरोग तथा स्वस्थ्य जीवन का अनुभव महसूस कर सकें। इसी प्रकार की उत्कृष्ट भावना तथा सभी प्राणियों के साथ सद्भाव एवं एक उत्कृष्ट गृह की परिकल्पना वैदिक वाङमय की देन है। जिसमें निवास करने वाला पुरुषार्थ चतुष्ट्य को प्राप्त करता है, तथा वहां पर निवास करने वाला भू स्वामी श्रौत- स्मार्त क्रिया के फल को प्राप्त करता है।[1]

खात-विधि -

ज्योतिषशास्त्र वैज्ञानिक परम्परा पर आधारित एक पूर्ण शास्त्र हैं, इसलिए किसी भी शुभ कार्य को करने के लिए ज्योतिशास्त्र के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग में कुछ नियमों तथा उपनियमों के साथ शुभ मुहूर्तो का भी विचार किया जाता है। यदि कार्य को करने के लिए नियमों तथा उपनियमो के साथ-2 समय का ठीक से विचार कर लिया जाय तो कार्य की कुशलता तथा पूर्णता में कोई संशय नहीं रहता। "काल" सबसे बलवान है, अतः शुभकार्य के लिए शुभ समय का चयन एक आवश्यक प्रक्रिया है। चूकि "खात" विधान से पूर्व उपयुक्त भूखण्ड का चयन किया जा चुका होता है। तथा भूखण्ड के दोष और गुण का अवलोकन करके शल्य आदि से भूमि को परिमार्जित किया जा चुका होता है। इसलिए ऐसे समय में शुभ दिन, शुभवार, लग्न आदि का विचार करके गृहस्वामी को पूर्वाभिमुख होकर उस भूखण्ड पर जहां निर्माण कार्य अभीष्ट हो वहां पर खात के लिए अभीष्ट स्थान को गौ के गोबर से लीपकर शुद्ध कर लेना चाहिए तत्पश्चात् वहाँ पर कलश की स्थापना के उपरान्त गणेश जी का आवाहन तथा नवग्रह का विधान करना चाहिए।[2] तथा आवश्यक भूखण्ड पर जहां भवन का निर्माण सम्पन्न करना है[3] उस स्थान पर शास्त्रीय विधि के अनुसार[4] पञ्चगव्य[5] जल तथा पञ्चामृत[6] का छिड़काव करके भूमि को पुनः शुद्ध कर लेना चाहिए। जिससे उस स्थान की Negative Energy समाप्त होकर Positive Energy का संचार हो जाय।

तत्पश्चात् उस भूखण्ड पर स्थापित कलश में प्रत्येक प्रकार के द्रव्य-गन्ध सभी प्रकार की औषधियों आदि को डालकर कलश को सजाकर उसको लाल वस्त्र में लपेट देना चाहिए तथा उस कलश में वरूणादि देवताओं का आवाहन करना चाहिए। नवग्रह, वस्त्रादि पूजन विधान के साथ-2

---

1. श्लोकः "स्त्रीपुत्रादिकम् भोग सौख्य जननधर्मार्थ कामप्रदम्।"
2. विश्कर्मा प्रकाश श्लोक 83,84
3. विश्कर्मा प्रकाश श्लोक 85
4. विश्कर्मा प्रकाश श्लोक 86
5. पञ्चामृत- दूध, दही, घी, शहद एवं शर्करा।
6. पञ्चगव्य- गाय का दूध, दही, घी, गोवर एवं मूत्र।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पर्वतों, काननो, नदियों, सागरों से, वेष्टित भूमि के पूजन तथा दिक्पाल, कुल देवी, देव गन्धर्व तथा नागों की पूजा का विधान है। तत्पश्चात् वास्तु पुरुष का पूजन करके **"ॐ नमो भगवते वास्तु पुरुषाय कपिलाय च। पृथ्वीधाराय देवाय प्रधान पुरुषाय च"** आदि मन्त्र के द्वारा नमस्कार करना चाहिए। तथा प्रार्थना पूर्वक कहना चाहिए कि हे समस्त गृह, महल, पुष्कर, उद्यानादि कर्म और गृहारम्भ के प्रथम समय में सव सिद्धियों को देने वाले सिद्ध देवता मनुष्य जिनकी रात-दिन सेवा करते हैं। ऐसे वास्तु पुरुष आप आवाहन पर उपयुक्त भूखण्ड पर स्थित होकर पूजा को ग्रहण करो तथा गृहस्वामी का सर्वविध कल्याण करो।[1]

हे वास्तु पुरुष! भूमिरूपी शय्या पर स्थापित होकर हमे धन-धान्य से भरपूर करो[2] इस प्रकार प्रार्थना करके चावलों के पिसे आटे से एक नागरूप वास्तु पुरुष का निर्माण करें तथा वास्तुपुरुष का अपनी सामर्थ्य के अनुसार आवाहन और पूजन करें, तथा ऐसी कल्पना मानसिक रूप से करें, कि भूमि शय्या पर अधोमुख लेटे वास्तु पुरुष का आवाहन कर रहा हूँ। ये वास्तु पुरुष जगत के प्राण है। जो प्रथम-पूर्व दिशा में स्थित है, ऐसे सर्पों के स्वामी "विष्णोरराट" क पूजन करने का विधान है।

रामदैवज्ञ के मत के अनुसार खात विधान[3]-

देवमन्दिर, गृहनिर्माण, एव जलाशय के निर्माण के लिए भिन्न-भिन्न दिशा में राहुमुख का विचार करके खात निर्धारण किया जाता है।

देवालय निर्माण में राहुमुख विचार[4]-

देवमन्दिर निर्माण करने के लिए जब सूर्य, मीन, मेष या वृषराशि मे होता है तो राहु का मुख ईशान कोण में होता है। जब सूर्य मिथुन, कर्क तथा सिंह राशि में तब राहु मुख वायव्यकोण में जब सूर्य, कन्या, तुला एवं वृश्चिक राशि में होता है तो राहु मुख नैऋत्य कोण में तथा जब सूर्य, धनु, मकर एवं कुम्भ राशि में होता है तो राहु का मुख अग्निकोण में होता है।

गृहनिर्माण में राहु मुख विचार-

गृह निर्माण में जो विचारणीय प्रश्न है, वह यह है कि, जिस समय सूर्य सिंह, कन्या, तुला इन तीन राशियों में होता है तो राहु मुख ईशान कोण, में वृश्चिक, धनु, मकरादि तीन राशि

1. विश्वकर्माप्रकाश श्लोक-87-94
2. श्लोक- वास्तु पुरुष नमस्तेष्तु भूशय्या भिरत प्रमो।
   मदगृहं धन-धान्यादि समृद्धं कुरु सर्वदा।
3. श्लोक- 99-100 पृष्ठ 35 विश्वकर्मा प्रकाश
4. देवालये गेहविधौ जलाशये राहोमुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
   मीनार्कसिहार्कमृगार्कतस्त्रिमे खाते मुखात् पृष्ठविदिक शुभा भवेत्। वृ. वा. मा. श्लोक.-104
   एवं मुहुर्त चितमणि- रामदैवज्ञ- 12 प्र. 19 श्लोक एवं
   भारतीय वास्तु विद्या डा. विहारीलालशर्मा खात दिशा खनन स्थान, चतुर्थ अध्याय

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

में सूर्य के होने पर राहु मुख वायव्य कोण में तथा कुम्भ, मीन मेष राशि में सूर्य के रहने पर राहु मुख नैऋत्य कोण में एवं वृष, मिथुन, कर्क में सूर्य के रहने पर राहु मुख अग्निकोण में होता है।

जलाशय निर्माण में राहु मुख विचार-

जलाशय निर्माण के लिए राहु मुख का विचार निम्न प्रकार होता है। यथा- जब सूर्य, मकर, कुम्भ, मीन राशि में हो तो राहु का मुख ईशान कोण में, जब मेष, वृष, मिथुन में सूर्य हो तो राहु मुख वायव्य कोण में, एवं कर्क, सिंह, कन्या के सूर्य में राहु मुख नैऋत्य कोण में, तथा तुला वृश्चिक, धनु के सूर्य में राहु मुख अग्निकोण में होता है।

इस प्रकार राहुमुख तथा पुच्छ का विचार करके राहु मुख से पिछले कोण में खात विधान करना चाहिए, अर्थात राहु के कुक्षि भाग पर सर्व प्रथम खनन कार्य प्रारम्भ करना भू स्वामी के लिए श्रेयस्कर रहता है।

गर्गाचार्य के मत के अनुसार राहु मुख विचार[1]-

वेदी निर्माण में राहु का मुख वृष, मिथुन तथा कर्क राशि के सूर्य से विचारणीय है। **गृहनिर्माण** में सिंह, कन्या तथा तुला राशि के सूर्य की दिशा में राहु मुख होता है। **देवालय के निर्माण** में मीन, मेष तथा वृष के सूर्य के अनुसार राहु मुख विचार होता है। **तड़ाग के निर्माण** में मकर, कुम्भ तथा मीन के सूर्य की दिशा में राहुमुखं विचार होता है। राहु मुख की विपरीत दिशा अर्थात् कुक्षि भाग से खात प्रारम्भ करना चाहिए। भाद्रपद से तीन मास (भाद्रपद, अश्विन वा कार्तिक) में राहु का सिर पूर्व में, मार्गशीर्ष, पौष एवं माघ मास में दक्षिण में, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख में पश्चिम में, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण मास में उत्तरदिशा में होता है।[2]

कुक्षि विचार[3]- राहु अर्थात् वास्तुपुरुष के मुख के पीछे दिशा वामकुक्षि कहलाती है, वामकुक्षि में गृहकार्य के लिए खनन करना श्रेयस्कर होता है।

खात दिशा की विपरीत दिशा में खनन से हानि[4]-

खात दिशा की विपरीत दिशा में खनन करने से हानि होती है। वास्तु पुरुष के सिर भाग में खनन करने से माता-पिता तथा धन की हानि। चरण पर खनन से स्त्री वंश तथा गौधन का हानि। पृष्ठ भाग पर खनन करने से भय, रोग एवं पीड़ा होती है।

---

1. वृषार्कादित्रिकं वेद्या, सिंहादि गणवेद गृहे।
   देवालये च मीनादि तड़ागे मकरादिकम्।। वृ. वास्तुमाला श्लोक. 105
2. वास्तुसौरव्यम्- टोडरमल विरचितं (उद्धृतज्योतिषचिन्तामणौ) श्लोक-8
3. वास्तुसौख्यम- टोडरमल विरचितं (उद्धृतज्योतिषचिन्तामणौ) श्लोक-86, चतुर्थमान
4. वास्तु सौरव्यम् टोरमल विरचितं (उद्धृतज्योतिषचिन्तामणौ) श्लोक-चतुर्थमान एवं विश्कर्मामोप्रकाश श्लोक 102 एवं 111

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खात की दिशा में खनन से लाभ[1]- खात की उपयुक्त दिशा अर्थात् मुख तथा पुच्छ का विचार करके यदि खनन कार्य किया जाता है तो कुक्षि भाग पर खनन करने से स्त्री, पुत्र, धन आदि का लाभ होता है तथा गृह स्वामी पुरुषार्थ चतुष्ट्य की दिशा में अग्रसर होता है।

वशिष्ठ के मतानुसार[2]- पूर्व दिशा में सिर करके वामपार्श्व में सोया हुआ प्रदक्षिणा वर्तभ्रमण करने वाला वास्तु पुरुष गृह स्वामी के लिए पूजनीय होता है वास्तु पुरुष वामपार्श्व में सोते है। और उसका दक्षिण पार्श्व उपर की ओर होता है अतः दक्षिण पार्श्व के उपर की ओर रहने के कारण खनन कार्य दक्षिण पार्श्व में करना चाहिए। **''वामावर्त प्रसार्यचरणादिनाशेते''** इत्यनेन् **नागः शेषोवेति कल्पितम्। वस्तुतस्तुनरवास्तुरेवेति।**

पूर्व शिर, पश्चिम पुच्छ, दक्षिण कुक्षि व उत्तर पृष्ठ करके वास्तु पुरुष शयन करते हैं। इस प्रकार से वास्तु पुरुष का शयन सर्व प्रतिपादित है।

राहु (शेषनाग) ईशान कोण से वामावर्त कोणों में घूमते रहते हैं। अतः इनके मुख; मध्य व पुच्छ की तीनो दिशा को खनन कार्य के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता तथा इन दिशाओं को छोड़कर चौथे कोण से खनन का कार्य करना शास्त्र सम्मत है।[3]

वशिष्ठ ने तीन प्रकार के नर वास्तु की कल्पना की है। **''वास्तुशब्द पुल्लिङ्गोप्यस्ति '' वेश्यभूर्वास्तुरसिऽमित्यरः** इति। वास्तु पुरुष के शिर की दिशा के मुखवाला घर आरम्भ करना चाहिए क्योंकि वास्तु पुरुष के कल्पित मुख से विपरीत दिशा में किये गये गृह का निर्माण शोकः, दुःख व भय देता है। किन्तु द्विशाल, त्रिशाल, चतुःशाल का गृह निर्माण करने पर यह दोष नहीं लगता। अर्थात् वास्तु नर के शिर की दिशा में गृह के द्वार का नियम द्विशाल, त्रिशाल एवं चतुःशाल गृह में नहीं होता है।

---

1. विश्कर्माप्रकाश श्लोक संख्या - 112
   एव वास्तु सौरव्यम् टोडरमल विरचितं (उद्धृतज्योतिषचिन्तामणौ) श्लोक-89, चतुर्थमान
2. विश्वकर्माप्रकाश श्लोक संख्या- 90
3. वास्तुसौख्यम- टोडरमल विरचितं चतुर्थभागः श्लोक-91,
   पृष्ठविदिक शुभो भवेदित्यनेन सर्वेश्चतुर्थी दिक् स्वीकृते स्पष्टोक्तिः।
   ''खनेच्चतुर्थम् इत्यनेन'' त्रयंपरित्यज्य।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुपुरुष मुख ज्ञान दिशा चक्र मासानुसार[1]-

मास	मुख दिशा
1. भाद्रपद् अश्विन, कार्तिक	1. पूर्व
2. मार्गशीर्ष, पौष, माघ	1. पश्चिम
3. फाल्गुन, चैत्र, वैशाख	3. उत्तर
4. ज्येष्ठ अषाढ़ श्रावण	4. दक्षिण

राशिनुसार वास्तु पुरुष मुख ज्ञान चक्र[2]-

(विभिन्न प्रकार के एवं देवालयादि विचार)

स्थान	देवालय	गृह	नदी	तालाब
राशि	मीन, मेष	सिंह, कन्या, तुला	वृष, मिथुन, कर्क	मकर, कुम्भ
मुखदिशा	पूर्व	पूर्व	पूर्व	पूर्व
पृष्ठदिशा	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम

कुक्षि, मुख, व पुच्छ ज्ञानचक्र

राशि	सिंह, कन्या, तुला	वृश्चिक, धनु, मकर	कुम्भ, मीन, मेष,	वृष, मिथुन, कर्क
कुक्षिदिशा	आग्नेय	ईशान	वायव्य	नैऋत्य
मुखदिशा	ईशान	वायव्य	नैऋत्य	आग्नेय
पुच्छदिशा	नैऋत्य	आग्नेय	ईशान	वायव्य

वार के अनुसार राहुवास चक्र[1]

सूर्यादिवारों में क्रम से नैऋत्य, उत्तर, आग्नेय, पश्चिम, ईशान दक्षिण, वायव्य दिशा में राहु मुख रहता है। इस समय में गृहारम्भ यात्रा कार्य नहीं करना चाहिए।

---

1. विश्वकर्माप्रकाश- श्लोक 101
2. विश्वकर्माप्रकाश- श्लोक 103, 104
3. विश्वकर्मा प्रकाश श्लोक- श्लोक सं. 110 एवं राजवल्लभ मण्डनम् मिश्रकलक्षणम श्लोक-23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चन्दवास ज्ञान एवं चन्द्र दिशा का फल[1]

चन्द्रमा कृतिकादि सात नक्षत्रों में पूर्व में मघादि सात नक्षत्र में दक्षिण में तथा अनुराधादि सात नक्षत्रों में पश्चिम में और धनिष्ठादि सात नक्षत्रों में उत्तर दिशा में रहता है।

यदि चन्द्रमा गृह स्वामी के अग्रभाग में हो तो भय, पीछे हो कार्यकर्ता को भय, दाहिने हो तो धनलाभ तथा वायें हो तो स्त्री-सुख व सम्पत्ति का लाभ होता है।

सप्तशलाका चक्र विधान[2]

पूर्व

		कृतिका	रोहिणी	मृगशीर्ष	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	आश्लेषा	
	भरणी								मघा
	अश्विनी								पू. भा.
	रेवती								उ. भा.
उत्तर	उ. भा.								हस्त दक्षिणं
	पू. भा.								चित्रा
	शतभिषा								स्वाती
	घनिष्ठा								विशाखा
		श्रवण	अभिजित	उ.षा.	पू.षा.	मूल	ज्येष्ठा	अनुराधा	

पश्चिम

1. विश्वकर्मा प्रकाश श्लोक- श्लोक सं. 114-115 एवं राजवल्लभ मण्डनम् मिश्रकलक्षणम श्लोक-23
2. विश्वकर्मा प्रकाश श्लोक-116-118

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह नक्षत्र तथा चन्द्रमा के नक्षत्र को सप्तशलाका चक्र में रखकर यह विचार किया जाता है कि गृहनक्षत्र तथा चन्द्रमा नक्षत्र में अनुकुलन हैं कि नहीं। यदि चन्द्रमा तथा गृह का नक्षत्र गृहारम्भ के अग्रभाग या पृष्ठ भाग में हो तो शुभ नहीं होता परन्तु वायें तथा दक्षिण भाग का चन्द्रमा शुभ होता है। इसलिए गृहारम्भ के समय भलीभांति विचार कर लेना चाहिए कि चन्द्रमा वायें या दक्षिण भाग में हो, यदि ऐसा नहीं है तो गृहारम्भ नहीं करना चाहिए।

खनन काल में शुभाशुभ शकुन[1]-

यदि लौह दण्ड (फावडा सब्बल आदि) विषम अंगुल का हो तो गृहस्वामी को पुत्र लाभ, यदि सम अंगुल का हो तो कन्या प्राप्ति होती है। यदि न सम अंगुल का हों और न विषम का हो तो वह दुःखदायी होता है। खात के समय शुभवाणी, मांगलिक वस्तु, गीत की ध्वनि, फल, पुष्प वीणावादन तथा उपरोक्त वस्तुओं का दर्शन शुभ होता है। खात के समय विच्छू, लोहदण्ड, केश, अंगार, भस्म, चर्म कांटे वाले वृक्ष आदि का दर्शन अशुभ सूचना प्रदान करते हैं।[2]

---

1. विश्वकर्मा प्रकाश श्लोक-122-126
2. विश्वकर्मा प्रकाश- श्लोक- 127 से 129
   एवं वास्तु रत्नावली- शल्योद्धाराध्यायः पृष्ठ.-31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर-वास्तु एवं विग्रह विन्यास

–डॉ. उमाशंकर

स्थापत्यकला में मन्दिरों का विशिष्ट महत्व है। अतः मन्दिरों के वास्तुशास्त्रीय विवेचन से पूर्व 'मन्दिर' की पृष्ठभूमि, मन्दिर शब्द के अर्थ, मन्दिरों की महत्ता और उनके क्रमिक-विकास को स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। इसी क्रम में मन्दिरों की उत्पत्ति के विषय में प्रदत्तमतों का भी उल्लेख कर मन्दिरों की प्राचीनता का पुरातत्त्वीय सन्दर्भों द्वारा स्पष्टीकरण आवश्यक हैं। मन्दिरवास्तुकला को जानने के लिए मन्दिर-निर्माण की शैलियों, मन्दिर के विभिन्न भागों तथा मन्दिर में स्थित प्रतिमा-लक्षणों का भी अध्ययन महत्वपूर्ण हैं।

'मन्दिर' शब्द का अर्थ व परिभाषा

मन्दिरवास्तुकला के अध्ययन से पूर्व 'मन्दिर' शब्द की उत्पत्ति के विषय में जानना आवश्यक है। मन्दिर शब्द **'मंद्यतेऽत्र मंद किरंच्'** से व्युत्पन्न हुआ है।[1] आवास, गृह या वासस्थान भी मन्दिर ही हैं। मन्दिर के लिए महाकाव्य, सूत्रग्रन्थों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में देवालय, देवायतन, देवकुल, देवमृह आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। उत्तरभारत में मंदिरों के लिए 'प्रासाद' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। गुप्त-अभिलेखों में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है, जबकि दक्षिणभारत के मन्दिरों के लिए अधिकांशतः 'विमान' अथवा 'हर्म्य' तथा कभी-कभी 'प्रासाद' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। वेदों में भी 'हर्म्य' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2]

शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों में प्रासाद और हर्म्य में अंतर माना गया है। 'मयमतम्' नामक वास्तुशास्त्रीय ग्रंथ के अनुसार प्रासाद और हर्म्य भिन्न-भिन्न हैं।[3] भोज विरचित समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार किसी भवन का उपरी मंजिल ही 'हर्म्य' कहलाता है।[4]

---

1. कंवल, रामलाल-प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ. 20
2. त्यं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणों विददिदस्य मर्म।
   यदीं सुक्षत्र प्रभृता मदस्य युयुत्सन्तं, तमसि हर्म्ये धाः॥ (ऋग्वेद- 5/32-5)
3. मयमतम्, 24-82
4. समराङ्गणसूत्रधार, 13/10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अतः यह कहना स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त शब्दों में से किसी न किसी शब्द का प्रयोग मुख्य या गौण अर्थ में मंदिर के स्थान पर प्रयुक्त होता रहा। मन्दिर शब्द का प्रयोग केवल धार्मिक देवस्थान के रूप में नहीं होता है, बल्कि निवासस्थान और प्रस्तरस्थानों के लिए भी होता है। यथा 'विश्वकर्माप्रकाश' में प्रस्तरनिवास को मंदिर कहा गया है।[1] देवस्थान, देवालय, प्रासाद, हर्म्य आदि शब्द 'मन्दिर' के ही पर्याय रहे हैं। जहाँ तक पाश्चात्य जगत् का प्रश्न है, मन्दिर का अंग्रेजी पर्याय 'Temple' है। यह शब्द लैटिनभाषा के 'टेम्पलम्' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। मूलरूप से इस शब्द का अर्थ आयताकार देवालय के लिए हुआ है। रस्किन ने स्थापत्य के वर्गीकरण करते हुए स्थापत्य के भाग को शक्तिपूरक बताते हुए टेम्पल की परिभाषा ऐसे भवन के रूप में की है, जहाँ पूजा-कार्य सम्पन्न किए जाते हो।[2]

मन्दिर सांस्कृतिक वैभव के प्रतीक हैं। धर्म और दर्शन उनकी आधारशिला है। विष्णु पुराण के अनुसार भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति 'धर्म' है। यह आध्यात्म की कर्मभूमि थी, जहाँ देवता भी शरीर धारणकर प्रकट होने के लिए लालायित रहते हैं -

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गावर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।[3]

मन्दिर स्पष्टतः धार्मिक वास्तु है, जिसमें भारतीयवास्तुकला का उत्कृष्ट विकास देखा जा सकता है। मन्दिर का जो रूप हमारे समक्ष विद्यमान है, उसका वास्तु-विधान किसी व्यक्तिविशेष अथवा युगविशेष की देन नहीं है, बल्कि यह कलाकारों के युगों-युगों के अनुभव, अनुसंधान, प्रयोग तथा साधना की परिणति है।

मन्दिर की भारतीय धारणा वस्तुतः मन्दिर को किसी देवता का निवास न मानते हुए उसे ही स्वयं देवता मानती है। मानव शरीर के रूप में मन्दिर की परिकल्पना 'हयशीर्ष पाँचरात्र नामक ग्रन्थ में आयी है। जिस चबूतरे पर मन्दिर का निर्माण आरम्भ होता है, उसे 'पाद' कहा जाता है। उसके ऊपरी-भाग पैर तथा जाङ्घ के द्योतक हैं। जहाँ से मन्दिर का भीतरी-भाग दिखाई देता है, वहाँ कटि स्थित है। भीतरी-भाग पेट का रूप उपस्थित करता है। छत के ऊपर छाती और स्कन्ध विद्यमान होते हैं। मन्दिर के शीर्ष-भाग को शीर्ष एवं शिखर माना जाता है।[4]

निष्कर्षतः मन्दिर को व्यापक और संकुचित दो अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है। व्यापक अर्थ में वे सभी धार्मिक-निर्माण मन्दिर के अन्तर्गत लिए जा सकते है, जहाँ पूजा और उपासना की जाती है। इस दृष्टि से स्तूप, चैत्य, एवं देवालय इन सभी का अध्ययन मन्दिर के अन्तर्गत आता है।

---

1. विश्वकर्माप्रकाश, 4/13
2. कंवल, रामलाल-प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ. 21
3. विष्णु पुराण 1/3/24
4. कंवल, रामलाल-प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ. 22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कहीं-कहीं विहारों में भी धार्मिक-चर्चाएँ, गोष्ठियाँ एवं पूजन होते थे। मन्दिर के संकुचित अर्थ में स्तूप, चैत्य, विहार, मठ, स्तम्भों को मन्दिर के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता। सामान्य अर्थ में मन्दिर से तात्पर्य ऐसे निर्माण हैं जहाँ पूजा एवं उपासना की दृष्टि से देवी-देवताओं अथवा तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं।

मन्दिरों की महत्ता

भारतीयसंस्कृति और सभ्यता में जब धार्मिकचेतना आध्यात्मिकता को लेकर उदित हुई तब ब्रह्म को दो रूपों में देखा गया - निर्गुणब्रह्म और सगुणब्रह्म। प्रथम स्वरूप निराकार था, जिसमें ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष और इन्द्रियातीत माना गया। द्वितीय स्वरूप सगुण व साकार था, जिसमें ब्रह्म को सविशेष और मायोपाधिक माना गया। इसी दार्शनिकमान्यता को कालान्तर में विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना दी जाने लगी। मनुष्य ने ब्रह्म की शक्तियों और अवतारों को भौतिक आवरण देना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप ये प्रतीक कालान्तर में कला और सौन्दर्य बोध से जुड़ते हुए मंदिरों और मूर्तियों के रूप में प्रकट हुए। मूर्तियाँ यदि ब्रह्म की दैवी शक्तियाँ थीं, तो मन्दिर उसका शरीर। गर्भगृह में स्थित देवता उस ब्रह्म का प्रतीक था। इस प्रकार मन्दिर मूर्त्त से अमूर्त्त और भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने का माध्यम सिद्ध हुए।

वासुदेवशरण उपाध्यायजी ने मन्दिर की उपादेयता का उल्लेख करते हुए कहा है[1]- 'हिन्दूधर्म में मन्दिर का निर्माण, पारलौकिक कार्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। भक्त इष्टदेव की पुकार सुनने वहाँ एकत्रित होते हैं। अतएव गर्भगृह के बाद ऐसे मण्डप की आवश्यकता हुई, जहाँ भक्तजन आराधना कर सकें एवं उपदेश सुन सकें। ऐसे मण्डप के निर्माण से निम्नलिखित कार्यों में भी सहायता मिली—

विद्वत् परिषद् यहाँ पर एकत्रित होकर धार्मिक और सामाजिक विषयों पर विवेचन व शास्त्रार्थ किया जाता था और तत्त्वबोध का पता लगाया जाता था।

कथाश्रवण का स्थान मन्दिर का वातावरण धार्मिक प्रवचनों और कथाओं के श्रवण हेतु उपयुक्त स्थान था।

ज्ञान-प्राप्ति का स्थान मन्दिरों में शिक्षण-कार्य भी होता था। धनाढ्य व्यक्ति मन्दिर-निर्माण करवाकर वहाँ धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन की व्यवस्था करवाते थे। इसी का अनुकरण मस्जिद, गिरजाघर आदि में किया गया।

प्रजाजनों के कष्ट-निवारण का स्थल मन्दिर का मण्डप शासकों के सम्मुख प्रजाजन द्वारा कष्टों के वर्णन करने तथा निराकरण के मार्ग ढूंढने का समुचित स्थान था। राजाजन यहाँ पर देवता के सम्मुख-समृद्धि और नवीन योजनाओं के सम्बन्ध में वार्तालाप करते थे।

---

1. उपाध्याय, वासुदेवशरण-प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 201-202

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अधिवेशन स्थल मन्दिरों के मण्डप में राज-सदस्यों द्वारा शासन संबंधी विषयों पर भी चर्चा की जाती थी। आज भी पञ्चायतों द्वारा मन्दिरों में बैठक आयोजित की जाती है तथा अनेक विषयों पर निर्णय किया जाता है।''

इस प्रकार मन्दिर केवल देवगृह ही नहीं थे, अपितु स्वयं देवस्वरूप भी थे। धार्मिक स्थानों पर शासकवर्ग एकत्रित होता रहा। शासकगण इस अवसर पर अनेक धार्मिक एवं जनहितकारी कार्यों की भी घोषणा करते रहे। अपने जूनागढ़ अभिलेख में स्कंदगुप्त ने मन्दिर-निर्माण के साथ-साथ बांध के पुननिर्माण की भी घोषणा की।[1] सम्राट् हर्ष के समय में प्रयाग के सङ्गमक्षेत्र में प्रति 5वें वर्ष एक समारोह आयोजित किया जाता था, जिसे 'महामोक्षपरिषद्' कहा गया है। थानेश्वर के प्रत्येक घर में भगवान् शिव की पूजा होती थी। शिव की उपासना के लिए मूर्तियाँ तथा लिङ्ग स्थापित किए जाते थे। मालवा तथा वाराणसी में शिव के विशाल मन्दिर बने थे, जहाँ उनके हजारों भक्त निवास करते थे।[2] राजस्थान के अनेक मन्दिर-अभिलेखों में शासकवर्ग अथवा धनीवर्ग द्वारा मन्दिर, कूप, वापी, तडाग आदि के निर्माण की उद्घोषणा अथवा भूमिदान की चर्चा मिलती है। यथा जोधपुर के शासक रावगङ्गा की पत्नी नानिक देवी ने 1525 ई. में जोधपुर के अचलेश्वरमंदिर को बनवाया और यहीं के शासकों ने शैवमन्दिरों के निर्माण हेतु भूमिदान भी किया।[3] इसी प्रकार मन्दिरों के सभामण्डपों का आविष्कार भजन, कीर्तन, नृत्य, संगीत आदि के लिए होता रहा। उड़ीसा के मन्दिरों में नट-मंडप का निर्माण इन्हीं कार्यों हेतु किया गया था। मण्डप के नीचे यज्ञ, सभा, विवाह संस्कार, धर्मग्रन्थवाचन, सत्सङ्ग, भजन आदि होते थे। इन धार्मिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के कारण मण्डप अस्तित्व में आए। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन्दिर अपनी परिपूर्णता में न केवल एक पूजा का धार्मिकस्थल था, अपितु अनेक निजी एवं सार्वजनिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्यों का सम्पादनकर्त्ता भी रहा है।

मंदिरों का क्रमिक विकास

मन्दिरों के क्रमिक विकास का अध्ययन तीन भागों में किया जा सकता है-

मन्दिरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत

मन्दिरों की उत्पत्ति के संबंध में पुराविदों और कलासमीक्षकों ने विभिन्न मत दिए हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है-

रथ सिद्धान्त

समराङ्गणसूत्रधार[4] में कहा गया है कि प्राचीनसमय में ब्रह्म ने देवताओं के लिए पाँच विमान बनाए ताकि देवगण आकाश में यात्रा कर सकें। इनकी नकल पर ही लोगों ने प्रासादों का निर्माण

1. श्रीवास्तव, के. सी. - प्राचीन भारत का इतिहास व संस्कृति, पृ. 443
2. प्रा. भा. का इ. व सं., पृ. 538
3. रेउ, विश्वेश्वर नाथ - मारवाड़ का इतिहास, भाग-1, पृ. 198
4. शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ - समराङ्गणसूत्रधार, भाग-3 (प्रासाद निवेश), अ.-63, पृ. 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रारम्भ किया। ऐसा लगता है कि विमान और रथ को ही मन्दिर का मूल पर्याय मानकर समराङ्गणसूत्रधार में राजा भोज ने रथों को मन्दिरों का मूल पर्याय मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। दक्षिण-भारतीय कोषकारों एवं वास्तुग्रन्थों में विमान को मंदिर का पर्याय बताया है, उत्तरभारत में भी 'विमान' शब्द वास्तु के रूप में प्रयुक्त हुआ है। रामायण[1] से भी यह बात प्रमाणित होती है।

वैदिक-कर्मकाण्ड सम्बन्धी मत

पर्सी ब्राउन[2] के अनुसार ऋग्वैदिक ऋचाओं से मन्दिरों का उद्भव ऋग्वेदकाल की देन लगता है। मूर्तिपूजा के कारण ऋग्वेद[3] में वर्णित हर्म्यों को प्रारम्भिक मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया होगा।

वैदिक-आर्यों ने यज्ञ पर स्तम्भों से युक्त जो बांस या खजूर की चट्टाइयों के छप्पर डाले, वे उनकी धार्मिक-आस्थाओं के प्रथम सार्वजनिक प्रमाण थे। कालान्तर में जब आर्यों में मूर्तिपूजा का आरम्भ हुआ, तो ये ही धार्मिकस्थल मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गए। इनके अनुसार वैदिक-आर्यों के ग्रामों के काष्ठनिर्मित-बाड़े वेदिकाओं के रूप में बौद्धस्थापत्य में दिखाई देते हैं।

मूर्तिपूजा से मन्दिर-उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार मन्दिरों के प्राचीन नाम देवकुल, देवप्रासाद, देवगृह अथवा देवायतन रहे हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि जिस वस्तु में किसी न किसी देवता की मूर्ति स्थापित होती थी, वह 'मन्दिर' होता था। जिस प्रकार के स्थान निवास के लिए प्रयुक्त होते थे, उसी प्रकार के स्थानों में देवता प्रतिस्थापित किए गए क्योंकि भारतीयों ने सदैव ही मूर्तियों को देवता का प्रतीक माना है। किन्तु इस मत को मानने में बाध्यता है कि प्राचीन सभ्यताओं में अग्रणी सैन्धव-सभ्यता के जन मूर्तियों के निर्माता तो थे, किन्तु अभी तक एक भी ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं मिला है, जिससे निश्चित हो सके कि इस सभ्यता के नगरों व ग्रामों में किसी मन्दिर का निर्माण हुआ हो।[4]

मन्दिर उद्भव में वैदेशिक सिद्धात

हवेल[5] के मतानुसार मन्दिरनिर्माण की पद्धति आर्यलोग अपने साथ विदेशों से लाए थे तथा भारत में मन्दिरनिर्माण से पूर्व इन्होंने मेसोपोटामिया में शिखरों से युक्त मन्दिर बनवाए। 2750 ई.

1. स ददर्शाविदूरस्थं चैत्यप्रासादमूर्जितम्।
   मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलासपाण्डुरम्॥ (रामायण 5/15-16)
2. ब्राउन, पर्सी - इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 4
3. अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चो यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः।
   ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः॥ (ऋग्वेद 7/56/16)
   प्र म्रे पन्था देवयाना अहश्र-न्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।
   अभूदु केतुरूपसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः॥ (ऋग्वेद 7/76/2)
4. कंवल, रामलाल - प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ. 27
5. हवेल, इ. बी. - इण्डियन आर्किटेक्चर थ्रू एजेज, पृ. 58-59

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पू. की असुर शासक नरमंसिन की जो सील मिली है, उससे आभास होता है कि उस समय निर्माणों पर ऊँचे शिखर बनाने की परम्परा थी, किन्तु हवेल के मत से यह प्रामाणित नहीं होता कि मेसोपोटामिया में मन्दिरों का उद्‌भव कैसे हुआ और मेसोपोटामिया के मन्दिरों ने भारत की ओर यात्रा की। साथ ही भारतीय और विदेशी मन्दिरों की वास्तुकला में पर्याप्त अन्तर रहा है।

हिमालय सदृश मन्दिर प्रतिकृति

हवेल[1] के मतानुसार हिमालय और मानसरोवर ने भारतीयसंस्कृति के साथ-साथ भारत की मन्दिरवास्तुकला को भी प्रभावित किया है। इनके अनुसार मन्दिरों के शृंग और शिखर बनाने की प्रेरणा पर्वतीयशिखर और शृंगो से मिली है। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि एलोरा का कैलाशमन्दिर कैलाश पर्वत की प्रतिकृति है। इस मत में भी वैज्ञानिकता का अभाव दिखाई देता है, क्योंकि गुप्तकालीन प्रारम्भिक मन्दिर शिखरहीन थे और एलोरा का कैलाशमन्दिर एक गुहामन्दिर है, जो चैत्यपरम्परा का विकसित स्वरूप है।

तीर्थो से मन्दिरों का उद्‌भव

स्टेला क्रेमरिश[2] ने तीर्थों से मन्दिरनिर्माण के आरंभ को माना है। इन्होनें तीर्थ को ऐसा स्थल बतलाया है, जो जल के किनारें हो, जहाँ यात्रीलोग आते हो, इसी तीर्थस्थल पर समान-आस्था के लोग एकत्रित होते रहें और मन्दिर के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति प्रकट करते रहें। अपने मत से स्टेला क्रेमरिश ने मन्दिरनिर्माण की दिशा में चिन्तन का मार्ग अवश्य प्रशस्त किया है किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तुकला की दृष्टि से मन्दिरों का क्रमशः विकास कैसे हुआ। इसके साथ-साथ भुवनेश्वर, खजुराहो, ऊन, माउण्ट आबू, एहोल आदि ऐसे स्थल हैं जहाँ मन्दिरों के कारण ही जलाशय आदि स्रोत निर्मित किए गए।

मन्दिरोंद्‌भ में आदिवासी सिद्धान्त

इस मत के अनुसार मन्दिर-उद्‌भव का कारण आदिवासी जीवन है। रामलाल कंवल[3] के अनुसार ई.बी. हवेल अपनी एकाधिक मान्यताओं के साथ-साथ सुझाव देते हैं कि भारतीयधर्म का मूल लोगों के दैनिक-जीवन में मिलता हैं न कि धार्मिक-उत्सवों, भोजों और परम्पराओं में। इस कारण भारतीय मंदिरवास्तुकला को अपने मूलरूप में अपने भारतीयग्रामों में स्थित सीधे-सादे झोपड़ीनुमा पूजागृहों में ही देखा जा सकता है किन्तु इस मत से यह ज्ञात नहीं होता कि आखिर ग्राम के आदिवासी जन को अपनी इन झोंपड़ियों में मन्दिर बनाने की आवश्यकता क्यों हुई ? पूर्व की ही भाँति इनका क्रम क्यों नहीं चलता रहा।

---

1. हवेल - द हिमालयाज इन इण्डियन आर्ट, पृ. 14
2. क्रेमरिश स्टेला - दी हिन्दू टेम्पल, भाग-1, पृष्ठ-3
3. कंवल, रामलाल - प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ. 29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बौद्धस्थापत्य से मन्दिर-उत्पत्ति का सिद्धान्त

अनेक विद्वानों ने बौद्धस्थापत्य अर्थात् स्तूप, चैत्य और विहार से मन्दिर-उत्पत्ति को बतलाया है।

स्तूप

भारतीयवास्तुकला की सबसे पुरातनविधा के रूप में स्तूपों को माना गया है। स्तूप-संस्कृत-स्तूपः अथवा **प्राकृत थूप 'स्तूप' धातु** से बना है जिसका अर्थ है एकत्रित करना, ढ़ेर लगाना आदि। अत एव मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए 'स्तूप' शब्द का प्रयोग होने लगा। स्तूप की जब चर्चा आती है, तो साधारणतः बौद्धधर्म से संबंधित धर्मस्थलों से आशय निकलता है। वासुदेवशरण उपाध्याय स्तूपों को उनके प्रयोजन के मान से निम्नलिखित चार भागों में विभाजित करते है-

1. ***शारीरिक*** - जिस स्तूप को बुद्ध के अवशेष पर बनाया गया था।
2. ***औद्देशिक*** - किसी विशेष प्रयोजन को लेकर बनाया गया स्तूप।
3. ***पारिभौमिक*** - तथागत के दैनिक-जीवन में काम आने वाली वस्तुओं पर निर्मित स्तूप।
4. ***व्रतानुष्ठित*** - ऐसा स्तूप जो मन्नत अथवा चढ़ावा हो। उसमें किसी प्रकार के धातु या वस्तु को रखने का प्रयोजन निहित था। तक्षशिला, सारनाथ अथवा नालन्दा के प्रधानस्तूप के चारों ओर मन्नतवाले स्तूप देखे जा सकते हैं।[1]

स्तूप से मन्दिर-उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता प्रकट की गई है कि स्तूप जब मूर्तिपूजा से जुड़े तो उनके स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन आया। पवित्र टीले के भीतर ही कक्ष निर्माण की कल्पना की गई और इस प्रकार उसमें देव-प्रतिमा स्थापित की गई। तोरणों ने प्रवेशद्वार का रूप लिया। उसकी ऊँचाईयों ने शिखर का स्थान ले लिया। हर्मिका मन्दिर की शिखा बन गई। उत्तरभारत में उस पर कलश जा बैठा और दक्षिणभारत में उस पर स्तूपी। दक्षिणभारत में प्रवेशद्वार पर तोरणद्वार 'गोपुरम्' के रूप में प्रकट हुए। किन्तु इस मत को युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्दिरों के मूल आधार उत्तरी अथवा दक्षिणी आर्य या अनार्य जन के निवासों की प्रतिकृति रहे हैं। यद्यपि बैराठ का 300 ई.पू. का बौद्धमन्दिर स्तूपनुमा, गोलाकार तथा तथा चैत्य गवाक्षों और हर्मिका से युक्त था। इसी प्रकार विदिशा में भी अभी एक दीर्घवृत्त मन्दिर का आधार मिला है, जो 200 ई.पू. का है, किन्तु इसे मन्दिर उद्भव का आधार नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 200 ई.पू. में विदिशा में जो वासुदेव मन्दिर बना, वह स्तूपों के मध्य में होते हुए भी स्तूपों के प्रभाव से युक्त था।[2]

चैत्य

चैत्यों से भी मन्दिर-उत्पत्ति को माना गया है। 'चैत्य' शब्द की उत्पत्ति चिता या बोधिवृक्ष से हुई प्रतीत होती है। यह शब्द चिता से सम्बन्धित होने से भस्मी अवशेष पर बनाये गए स्मारक

1. उपाध्याय, वासुदेव शरण - प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 14
2. ब्राउन, पर्सी इण्डियन - आर्किटेक्चर, पृ. 77-78

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की ओर भी संकेत करता है। ईंट और पत्थर से जो निर्माण (चि=चिनाई) करवाया जाता रहा है, उसे भी चैत्य कहा गया। बौद्धसाहित्य में रुढि अर्थ में यह 'उभरी हुई वस्तु' और संस्कृतसाहित्य में 'पूजास्थल' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[1]

साँची और भरहुत के तोरणद्वारों पर बुद्ध के प्रतीक के रूप में कहीं बोधिवृक्ष, कहीं चैत्य, तो कहीं धर्मचक्र प्रदर्शित किया गया है। चैत्य के आसपास वेदिकाओं का प्रारम्भ में निर्माण किया जाता था। मठों और विहारों की वृद्धि होने पर जब गुहाओं का निर्माण बढ़ गया, तब स्तूपों को इन निर्माणों के भीतर लाने का प्रयास किया गया। प्रारम्भ में ये विहार काष्ठ और प्रस्तर के बने थे, निर्मित किये जाने के कारण ये 'चैत्यमण्डप' कहलाते थे। जब इन चैत्यमण्डपों में स्तूप प्रतीकपूजा के रूप में उत्कीर्ण किए जाने लगे तो ये स्तूप भी चैत्य के पर्यायी माने जाने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ में वृक्ष को चैत्य माना जाता था, किन्तु कालान्तर में स्तूपों को भी वह संज्ञा दी गई। इस प्रकार जब बौद्धचैत्यों ने पर्वतों और गुहाओं का आग्रह छोड़ा, तो वे क्रमशः मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गये।[2] किन्तु यह मत भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि रामायण में चैत्य प्रासाद[3] का उल्लेख आया है। सम्भवतः उस समय चिताओं के स्थान पर निर्माण होता होगा। यह पद्धति आज भी कई स्थानों पर मठों या शिवलिङ्ग युक्त चबूतरों के रूप में विद्यमान है। सम्भव है कि बौद्धों ने इस प्राचीनपरम्परा को चैत्यों के रूप में स्वीकार कर लिया।

विहार

विहार भारत के प्राचीन धार्मिकनिर्माणों के अपरिहार्य अङ्ग रहे हैं। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को सदैव ही परिव्राजक बने रहने तथा अकेले रहने का उपदेश दिया था, किन्तु जब भिक्षुओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा प्राकृत गुहाओं एवं शरणस्थलों का मिलना बन्द हो गया, तो भगवान् बुद्ध को उन्हें कृत्रिम विश्रामस्थलों पर सम्बद्ध होकर रहने की अनुमति देनी पड़ी। धीरे-धीरे बौद्धमत में सङ्घ एक अनिवार्य तत्त्व बन गया और बुद्ध तथा धम्म के साथ-साथ सङ्घ की शरण में जाने का निर्देश दिया जाने लगा। कालान्तर में भिक्षुओं के विश्रामस्थलों को कुछ स्थायित्व देने का प्रयास किया गया, ऐसे स्थलों को विहार की संज्ञा दी गई और कृत्रिम गुहाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ। यद्यपि भगवान् बुद्ध कृत्रिमगुहाओं के पक्ष में नहीं थे। इस कारण मौर्यकाल तक कोई बौद्धगुहा नहीं बन पायी। बराबर और नागार्जुन की पहाड़ियों पर जो गुफाएँ बनीं वे बौद्धों के लिए न होकर आजीविको के लिए निर्मित की गई थीं। किन्तु शुङ्ग-सातवाहन काल में कार्ले, कान्हेरी, अजन्ता आदि स्थानों पर विशाल गुहाएँ पर्वतों को काटकर बनाई गईं। ये गुफाएँ या तो चैत्य या विहार के रूप में निर्मित की गई।[4] यद्यपि उत्तरभारत में चैत्य प्रणाली से सीधे सम्बन्धित 9वीं शताब्दी के भुवनेश्वर के वेतालदेवुल तथा 11वीं शताब्दी का तेली का मन्दिर (ग्वालियर) है। दक्षिणभारत में मन्दिरों में जो

1. गुप्त, परमेश्वरी लाल - भारतीय वास्तुकला, पृ. 27
2. गुप्त, परमेश्वरी लाल - भारतीय वास्तुकला, पृ. 29-32
3. रामायण 5/15/16
4. भा. वा., पृ. 57-58

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चैत्यछत दी गयी है, उसे गजपृष्ठीय कहा गया है। इस दृष्टि से चेजरला का चौथी शताब्दी का और चेर का 540 ई. का मन्दिर विशेष रूप से बौद्धचैत्यों के अत्यधिक निकट है।[1]

इन सभी मन्दिर-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि मन्दिर-उद्भव का कोई एक सिद्धान्त पूरी तरह तथ्य एवं तर्कपरक नहीं है। जब जनसामान्य में दैवी-शक्तियों अथवा ईश्वर के प्रति धार्मिकश्रद्धा वृक्षों, पर्वतों अथवा शैलाश्रयों के चित्रों के माध्यम से प्रकट हुई, तो इन प्रतीकों को सम्मान देने के लिए श्रद्धालुओं ने उनके निवास जैसे ही पूजा के भवन बना दिए। अन्ततः मूर्ति एक सशक्त प्रतीक अभिव्यक्ति के रूप में जब उभरी तो आवासों के रूप में उस समय तक विकसित जो भी श्रेष्ठतम वास्तु उपलब्ध था, उसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों के लिए होने लगा। धीरे-धीरे इन धार्मिक-प्रासादों को ही ईश्वरीय-शरीर के रूप में माना जाने लगा तथा शैलीगत विभिन्नताओं के होते हुए भी मन्दिर एक विशिष्ट वास्तुविद्या के रूप में उभर कर सामने आया।

मन्दिरों के शिखर की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत

पर्सी ब्राउन[2] द्वारा शिखर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन मत प्रतिपादित किए गए हैं -

पूर्वी या मध्यभारत की गुम्बदनुमा झोंपड़ियों से विकास

इस मत के अनुसार ईसा पूर्व की शताब्दियों में पूर्वी या मध्यभारत के क्षेत्रों में काष्ठ या बाँस की गुम्बदनुमा झोंपड़ियाँ बनायी जाती थीं। ये ही नागरशैली के मन्दिरशिखरों का पूर्व रूप थीं।

स्तूप से विकास

इस मत के अनुसार शिखर का उद्भव बौद्धस्तूप से माना गया है। ईसा के बाद के हजारों वर्षों में क्रमशः स्तूप का अर्द्ध गोलाकार भाग ही परिवर्तित होकर मन्दिर के शिखर के रूप में विकसित हो गया।

रथ सिद्धान्त

इस मत के अनुसार, चूंकि रथ को मन्दिर का पर्याय ही माना जाता है, इसलिए मन्दिर का उपरी-भाग भी रथ के उपरी-भाग की तरह होना चाहिए और कालान्तर में रथ के उर्ध्व-आवरण की भाँति ही मन्दिर पर शिखर का निर्माण किया जाने लगा।

मन्दिरों के उद्भव की भाँति निवासियों के कुटीरों से शिखरों की उत्पत्ति वाला विचार निश्चित ही गहराई से विचारने योग्य है। पुरातत्वीय दृष्टि से भी यह माना जाता है कि मन्दिरों के साथ शिखरों का समन्वय उत्तर-गुप्तकाल में ही हुआ।[3]

---

1. ब्राउन, पर्सी - इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 77
2. इ. आ., पृ. 77
3. उपाध्याय, वासुदेव शरण - प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 208-209

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परमेश्वरी लाल गुप्त ने भी शिखर के उद्भव के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किए हैं। हिन्दू-भावना के विषय में वे बतलाते हैं कि मन्दिरवास्तु में शिखर मेरु, मन्दर, कैलाश, त्रिकूट आदि पर्वतों से लिए गए है। ये पर्वत देवताओं के मुख्य निवास हैं, उन्हीं की भावना और कल्पना में अनुदित कर शिखर-मन्दिर का रूप दे दिया गया है। पारमिण्टर और कुमारस्वामी के मत का उल्लेख करते हुए इन्होंने कहा है कि यद्यपि नागर-शिखर का विस्तृत विकास हो चुका था, तथापि वास्तविक रूप में वे एक के ऊपर एक अनेक मंजिलों और छतों के संयुक्त और संकीर्ण रूपक ही है। इस प्रकार नागर और द्रविड़ शिखर दोनों का विकास एक ही रूप से हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि नागर-शिखर में मञ्जिलों का संकुचन एवं सम्मिलन इतना अधिक हो गया कि उसके आधार-चिह्नों का लोप हो गया और लम्बरूपकों को चिह्नों के रूप में प्रधानता दे दी गई। इसके विपरीत द्रविड़-शिखरों में मञ्जिल और आधार भावना का लोप नहीं हुआ है। परवर्तीकाल के नागर-शिखरों में आधार नहीं चलता। इस प्रकार शिखर विकास की कल्पना के सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद है और मत के ऐसे कारण और तर्क हैं कि सहसा किसी के लिए किसी निर्णय पर पहुँचना सहज नहीं है, परन्तु पूर्ण रूप से विकसित शिखर मन्दिरों की कल्पना 7वीं शताब्दी से पहले उभरती हुई ज्ञात नहीं होती। इस रूप के आदिम प्रतिनिधि नमूने देवगढ (झाँसी) का विष्णुमन्दिर[1] और भीतर गाँव (कानपुर) के मन्दिर[2] कहे जा सकते हैं।

मन्दिर-निर्माण की शैलियों के उद्भव का इतिहास

मन्दिर के उत्पत्ति सम्बन्धी मतों से निष्कर्ष निकलता है कि एक विशिष्ट स्वरूप में आने से पूर्व मन्दिर उन आवासों और प्रासादों की प्रतिकृति थे, जोकि भारत के लोग अपने निवास के लिए प्रयुक्त करते थे।

जब मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चल रही थी, तब आर्य और अनार्य भारत के विभिन्न भागों में स्तूपों, चैत्यों और विहारों का निर्माण ईटों और प्रस्तरों को आधार मानकर कर रहे थे। अभिलेखीय साक्ष्यों में सबके अग्रणी बेसनगर का हीलियोडोरस का स्तम्भलेख (125-100 ई.पू.) है।[3] बेसनगर में ही एक अन्य अभिलेखीय प्रमाण ई.पू. के निकट की शताब्दियों में मन्दिरनिर्माण की सूचना देता है। नेपाल की तराई में अशोक का जो स्तम्भ रुम्मिनदेई में है, उसके लेख में पूज्यस्थल के चारों ओर भित्ति बनाए जाने का उल्लेख मिलता है।[4] ऐसा ही अनुमान चितौड़ (राजस्थान) के निकट घोसुण्डी से प्राप्त अभिलेख (द्वितीय शताब्दी ई.पू.) से भी होता है। मथुरा में महाक्षत्रप रजुबल

1. अनेक ग्रन्थों में इस मन्दिर का उल्लेख 'दशावतार' नाम से मिलता है और स्थानीय जनता में यह सागरगढ़ के नाम से प्रसिद्ध है।
2. गुप्त, परमेश्वरी लाल - भारतीय वास्तुकला, पृ. 98-101
3. स्तम्भलेख इस प्रकार है देवदेवस वासुदेवसं गरुड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलियोदोरेण भागवतेन दिअस पुत्रेण तख्खसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अतिलिकितस उपता सकासे राजौ। (उपाध्याय वासुदेवशरण प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ. 195)
4. बैनर्जी, जे. एन. - डवेलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकानोग्राफी, पृ. 92

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के पुत्र महाक्षत्रप षोडास का प्रथम शताब्दी ई.पू. का जो अभिलेख मिलता है, वह पंच वैष्णव वीरों के मन्दिर के निर्माण की बात करता है। एक अन्य अभिलेख महास्थान में इसी समय में मन्दिर के अस्तित्व की सूचना देता है।[1]

अभिलेखों के अतिरिक्त अहिच्छत्रा (रामनगर, जिला बरेली) और उसके आस-पास से प्राप्त होने वाले पाञ्चाल नरेशों के तांबे के सिक्कों पर भी देवताओं का मूर्त्तन हुआ है। पाञ्चाल प्रदेश से ही जयगुप्त, इन्द्रगुप्त और प्रजापति मित्र के ऐसे सिक्के प्राप्त होते है, जिन पर एक ऊँचे चबूतरे पर वर्तुलाकार छतवाले कमरे दिखाये गए हैं। अण्डाकार छत के ऊपर एक उभरा कलश और छत के दोनों ओर आगे को निकला छज्जा-सा है। इसे सहज भाव से मन्दिर का आदिमरूप कहा जा सकता है। ऐसा लगता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में ही आरम्भिक गुप्तकालीन सपाट-छतों वाले मन्दिरों से सर्वथा भिन्न, गोल-छतों वाले मन्दिरों की परम्परा थी और उनके ऊपर आमलक के सदृश उभार भी होता था। गोल-छतों वाला मन्दिर स्वरूप पाञ्चाल-सिक्कों तक ही सीमित नहीं है। मथुरा और उसके आस-पास के क्षेत्रों में मिलने वाले सिक्कों पर भी वह देखने में आता है। इन पर गोल-छतों वाले आयतन के भीतर देवी का अङ्कन हुआ है। यहाँ इसका रूप पाञ्चाल वाले रूप से भिन्न है। इसके ऊपर तीन कलश हैं।[2] दक्षिणभारत के 'बोदिनायक तुरु' नामक स्थान से प्राप्त मौर्योत्तरकालीन एक चाँदी की आहत मुद्राओं पर स्तम्भ से बने वर्तुलाकार-छत वाला मन्दिर अङ्कित है। उत्तरभारत में भी स्तम्भ पर बने गोल-छतों वाले मन्दिर का रूप हिमाचलप्रदेश में पाये जाने वाले पुरु जनपद के सिक्कों पर देखने में आता है।[3]

स्तम्भयुक्त वास्तु का अधिक सुडौल और विकसित रूप औदुम्बरो (पंजाब) के सिक्कों पर देखने को मिलता है। इन सिक्कों पर अङ्कित वास्तु-रूप के निर्धारण के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार यह वास्तु एक ऊँचे अलंकृत जगती पीठ पर स्तम्भों से बना चौकोर मण्डप है। उसके चारों ओर कोने के स्तम्भों सहित चार-चार स्तम्भ हैं, स्तम्भों के ऊपर हारयुक्त छत। इस छत के ऊपर स्तम्भों पर टिके, एक के ऊपर एक, दो छत और हैं। सबसे ऊपर घटयुक्त शिखर है। इस वास्तु स्वरूप में परवर्तीकालीन मन्दिरों के विकास के बीज स्पष्ट रूप से निहित दिखाई देते हैं।[4] इस प्रकार ये पुरातत्त्वीय सन्दर्भ ई.पू. के मन्दिरों पर निश्चित ही एक धुँधला, किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक प्रकाश डालते हैं। गुप्तकाल तक भारतीय मन्दिरवास्तुकला दो परम्पराओं के रूप में विकसित हो चुकी थी। पहली उत्तरभारत की विश्वकर्मा-परम्परा तथा दूसरी दक्षिणभारत की मय-परम्परा। मत्स्यपुराण में इन दोनों परम्पराओं के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख किया गया है। यथा-

---

1. भा. वा., पृ. 69-70
2. गुप्त, परमेश्वरी लाल - भारतीय वास्तुकला, पृ. 71-72
3. भा. वा., पृ. 73
4. गुप्त, परमेश्वरी लाल - भारतीय वास्तुकला, पृ. 74

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैवः विशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्मा-कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः।।[1]

विश्वकर्मा की परम्परा ही कालान्तर में नागर-शैली के रूप में विकसित हुई। इस वास्तुपरम्परा के प्राचीन आचार्यों में गर्ग का नाम आता है। वराहमिहिर भी इसी परम्परा के उद्गाता थे। मय-वास्तुकला को एक अनार्य-वास्तुकला के रूप में स्थापना मिली। मय-परम्परा के आदि आचार्यों में नग्नजित का उल्लेख प्रमुखता रखता है। असुर-वास्तुकार के रूप में इस आचार्य का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[2] में मिलता है। इस शैली के अन्य आचार्यों में शुक्र, नारद, भृगु आदि के नाम प्रमुखता से उल्लेखित किए गए हैं।[3] दोनों ही वास्तु-पद्धतियों में आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा शिल्पशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का इस प्रकार निर्माण हुआ। विश्वकर्मा पद्धति का विवरण विश्वकर्मा-प्रकाश में मूलरूप से आता है। इस ग्रन्थ में विश्वकर्मा की मान्यताएँ बहुत कुछ सुरक्षित मिलती है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता, भोज का समराङ्गणसूत्रधार, हयशीर्ष-पाञ्चरात्र तथा गरुड़पुराण इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरी तरफ सुप्रभेदागम, शिल्परत्न, शुक्रनीति, आत्रेयसंहिता, मयमतम् तथा मानसार द्रविड़शैली की वास्तुविद्याओं का उल्लेख करते हैं। कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब आर्य भारत में आए तो यहाँ वास्तुकला की असुर-पद्धति विद्यमान थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के अवशेष उसके प्रमाण कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद[4] में अनार्यों की पुरियों एवं नग्नजित नामक असुर-आचार्य का उल्लेख है।

असुर अथवा अनार्य वास्तुकला प्रस्तर और ईंटो से युक्त होती थी, जबकि आगन्तुक आर्यों की विश्वकर्मा-वास्तुकला ईंटों और काष्ठ की होती थी। चौथी शताब्दी तक दोनों कलाएँ न केवल एक दूसरे के निकट आईं, अपितु एक-दूसरे को इस सीमा तक प्रभावित किया कि दोनों के बीच भेद करना कठिन हो गया। असुर अर्थात् अनार्यकला उत्तरभारत में प्रभाव छोड़ती हुई दक्षिणभारत में मयशैली के रूप में रुढ होती चली गयी। उत्तरभारत की आर्यकला भी इससे प्रभावित होकर विश्वकर्मा-शैली के रूप में प्रसिद्ध हुई। आर्यों के दक्षिण की तरफ प्रसार ने दक्षिणभारत की वास्तुकला को इस सीमा तक प्रभावित किया कि दक्षिणभारत के कई वास्तु उत्तर-भारतीय-शैली की प्रतिकृति दिखाई देने लगे। इस प्रकार चौथी शताब्दी तक विश्वकर्मा और मयकला दोनों के मध्य कोई दृढ़ कलात्मक या भौगोलिक सीमा रेखा खींचना कठिन था। अन्तर का एक मोटा आधार दोनों के मध्य

1. मत्स्य पुराण 251/2-6
2. अथ ह स्माह स्वर्जिन्नाग्नजितः। (शतपथ ब्राह्मण 8/1/4/10)
3. घोष, जे. सी. - इण्डियन कल्चर, भाग-6, पृ. 347-351
4. जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृळहां पुरं विविशुः।। ऋग्वेद-5/19/2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यह था कि जहाँ आर्य-स्थापत्य आयताकार अथवा वर्गाकार होते थे, वहाँ अनार्य-स्थापत्य षट्कोणीय, अष्टकोणीय अथवा वर्गाकार होते थे। यह वास्तुभेद सबसे पहले स्तूपों पर प्रकट हुआ। आर्य-शैली से प्रभावित स्तूप चतुरस्र तथा अनार्य-शैली से प्रभावित स्तूप गोलाकार बने। आर्य-शैली में काष्ठ और मिट्टी तथा ईंटो का प्रयोग अधिक होने से इस शैली के प्राचीनवास्तु अब लगभग ओझल हो चुके हैं, किन्तु अनार्य-वास्तु में ईंटों और प्रस्तर का प्रयोग होने से कुछ वास्तु कुछ अंशों में अपना अस्तित्व बचा सके। यही कारण है कि प्रारम्भिक पुराविद् बौद्ध स्थापत्य को पूरी तरह अनार्य स्थापत्य से उत्पन्न मान बैठे, किन्तु विगत पुरातत्वीय खोजों और अनेक साहित्यिक-सन्दर्भों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये बौद्धनिर्माण आर्य और अनार्य संस्कृति को समन्वित कर लेने वाले बुद्ध-पूर्व के ब्राह्मण धर्म की ही देन हैं।[1]

बौद्धवास्तु की तरह मन्दिरवास्तु भी इसी आर्य-अनार्य समन्वित वास्तुकला की देन कही जा सकती है। इस समन्वित वास्तुकला पर जो भौगोलिक-प्रभाव पड़ा, यह धीरे-धीरे अपने में कई अपवाद छोड़ते हुए उत्तरभारत में विश्वकर्मा व दक्षिणभारत में मयशैली के रूप में विकसित हुआ। छठी शताब्दी तक आते-आते इनके नाम परिवर्तित होने लगे। उत्तरभारत की विश्वकर्मा-शैली कुछ विशिष्ट वास्तु मूल्यों के साथ विकसित होकर नागर-शैली कहलाई, जबकि दक्षिणभारत की मयशैली स्वतः में कुछ विशिष्ट परम्परागत विधाओं को विकसित करती हुई द्रविड़-शैली के रूप में सामने आयी। नागर और द्रविड़ शैली के मिश्रण से बेसर-शैली का विकास हुआ।[2] इनका सामान्य विवेचन इस प्रकार है-

नागर शैली

नागर-शैली आर्य-शैली का ही परिवर्धित रूप है। इस शैली का सर्वप्रथम प्रामाणिक उद्गाता गर्ग को माना गया है। इन्होंने नाग राजाओं के अधीन ई.पू. की प्रथम शताब्दी में **गर्ग संहिता** का प्रणयन किया। के. पी. जायसवाल[3] के अनुसार नागर-शैली नागों से अपने नाम को उधार लेती है। जब आर्यों की ईंटों और काष्ठ की वास्तुकला नागों की प्रस्तरकला का अवलम्बन ग्रहण कर गई तो वह नागर-शैली के रूप में सामने आयी। अथवा 'नागर' शब्द नगर से बना है। सर्वप्रथम नगर में निर्माण होने के कारण अथवा संख्या में बाहुल्य होने के कारण इन्हें 'नागर' की संज्ञा दी गई। नागर-शैली के मन्दिर वर्गाकार होते हैं। वर्गाकार गर्भगृह की ऊपरी बनावट ऊँची मीनार जैसी होती है। इनके शिखर की रेखाएँ तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती है। भौगोलिक दृष्टि से हिमालय और विन्ध्यपर्वतमाला के मध्यस्थ क्षेत्र में नागर-शैली के मन्दिर विस्तृत हैं। कालान्तर में प्रान्तीय-भेद के अनुसार नागर-शैली के अन्तर्गत लाट, उत्कल, बङ्गाल व काश्मीर शैलियों का विकास हुआ। पर्सी ब्राउन ने नागर-शैली को ही उत्तर-भारतीय आर्यशैली (North Indo-Aryan Style) की संज्ञा दी है।[4]

1. घोष, जे. सी. - इण्डियन कल्चर, पृ. 347-51
2. उपाध्याय, वासुदेवशरण-प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंन्दिर, पृ. 215
3. जायसवाल, के. पी.-एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 72
4. ब्राउन, पर्सी-इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 113

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्रविड़ शैली

द्रविड़ वास्तुशैली अनार्य-असुर-नागरशैली की ही परम्परा का विकसित रूप है। यह रूप उत्तर की आर्यशैली से पर्याप्त प्रभावित होते हुए मयशैली के रूप में विकसित हुआ। कालान्तर में दक्षिणभारत के अंचलों की स्थानीय विधाओं से प्रभावित हो उत्तर की नागरशैली की स्पर्धा में द्रविड़शैली के रूप में सामने आया। द्रविड़शैली के मन्दिर 'नागर' मन्दिरों से सर्वथा भिन्न हैं। द्रविड़ देश में विशेष रूप से विकसित होने के कारण यह द्रविड़शैली के नाम से विख्यात हुई। इस शैली के मन्दिर का आधार भाग वर्गाकार होता है। गर्भगृह के ऊपर का भाग सीधा पिरामिडनुमा बना रहता है जिसमें अनेक मंजिले होती हैं। ये मन्दिर साधारणतः षट्कोणीय एवं अष्टकोणीय होते हैं। इसमें शिखर का स्थान गोपुरम् ने ले लिया। ये गोपुरम् इतने ऊँचे होते है, कि अनेक बार मन्दिर का मुख्य शिखर गौण हो जाता है। शीर्ष पर आमलक न होकर स्तूपी होती है। भौगोलिक दृष्टि से कृष्णा अथवा तुङ्गभद्रा नदी से कुमारी अन्तरीप तक द्रविड़शैली के मन्दिर निर्मित हैं।[1]

कालान्तर में द्रविड़शैली के अन्तर्गत 600 से 900 ई. तक पल्लवशैली का, 900 से 1150 ई. तक चोलशैली का, 1150-1350 ई. तक पाण्ड्यशैली का, 1350-1565 ई. तक विजयनगरशैली का एवं 1600 ई. के आसपास मथुराशैली का विकास हुआ।[2]

बेसर शैली

बेसर का शाब्दिक अर्थ है 'मिश्रित'। अत एव नागर और द्रविड़शैली के मिश्रित रूप को बेसर की संज्ञा दी गई है। चालुक्यों के अधीन बेसरशैली का विकास हुआ, जिसका प्रमुख केन्द्र ऐहोल रहा। बेसरशैली के निर्माण वृत्ताकार होते थे। इस शैली पर नागर प्रभाव बहुत अधिक था, क्योंकि ऐहोल एवं वातापी जैसी शैली के प्रमुख केन्द्रों पर आज भी हमें नागर शैली के प्राचीन मन्दिर दिखाई देते हैं। इस शैली के मन्दिर विन्ध्यपर्वतमाला से कृष्णा नदी तक निर्मित है।[3]

जॉर्ज माइकल[4] ने मन्दिरों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है उत्तरीभारत के नागरशैली के और दक्षिणीभारत के द्रविड़ या विमानशैली के मन्दिर। मानसागर ग्रन्थ के तेरह अध्यायों में भी तीन भवन शैलियों नागर, द्रविड़ व बेसर का वर्णन किया गया है। मानसागर ग्रन्थ में बताया गया है-

नागरं चतुरस्त्रं स्यादष्टास्त्रं द्राविड़ं तथा।
वृत्तं च बेसरं प्रोक्तमेतत्पीठाकृतिस्तथा।।

अर्थात् नागरशैली के भवन चौकोर, द्रविड़शैली के अष्टकोण तथा बेसरशैली के भवन गोल होते है।[5]

1. सहाय, सच्चिदानन्द-मन्दिर स्थापत्य का इतिहास, पृ. 5
2. ब्राउन, पर्सी-इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 94
3. सहाय, सच्चिदानन्द-मन्दिर स्थापत्य का इतिहास, पृ. 5
4. माइकल, जार्ज-द हिन्दू टेम्पल, पृ. 86-87
5. मानसार-53/27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूमिजशैली

मन्दिरस्थापत्य के चरमोत्कर्ष काल में (10वीं से 13वीं शताब्दी) मध्यप्रदेश और उत्तरी महाराष्ट्र में मन्दिरनिर्माण की उत्तर-भारतीय अथवा नागरशैली के अन्तर्गत एक विशिष्ट उप-शैली का विकास हुआ, जिसे भूमिजशैली का नाम दिया गया है। महाराष्ट्र में इन मन्दिरों को देवगिरि (वर्तमान में दौलताबाद) के अमात्य के नाम पर हेमाडपन्थी कहा जाता है। इस शैली के मन्दिरों की योजना तारकाकृत थी। भूमिजमन्दिरों की योजना पञ्चरथ अथवा सप्तरथ होती थी। शिखर तीन, पाँच, सात, नौ भूमियों (मंजिल) के होते थे। स्टेला क्रेमरिश ने भूमिजमन्दिरों को भूमि अथवा स्थान से जन्मा बताया है। इन मन्दिरों के शिखर के चारों ओर ऊपर से नीचे तक चैत्यमुख रचना वाले जाल की लताएँ या पट्टियाँ रहती हैं, लेकिन इनके बीच में चारों कोणों में नीचे से ऊपर तक क्रमशः घटते आकार वाले छोटे-छोटे शिखरों की लड़ियाँ भरी रहती है। सभी भूमिज मन्दिर निरन्धार हैं।[1]

वास्तुशास्त्रानुसार मन्दिर का विभाजन

चितौड़ के राणा कुम्भा (1433-1468 ई.) के राजकीय स्थपति 'सूत्रधार मण्डन' द्वारा विरचित 'प्रासाद-मण्डन' ग्रन्थ भारतीय शिल्पग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके प्रथम अध्याय में विश्वकर्मा को 'सृष्टि का प्रथम सूत्रधार' कहा गया है। प्रासादोत्पत्ति की चौदह जातियों के विषय में कहा गया है-

⇒ देवों के पूजन में नागर जाति

⇒ दानवों के पूजन से द्रविड़ जाति

⇒ गन्धर्वों के पूजन से लतिन जाति

⇒ यक्षों के पूजन से विमान जाति

⇒ विद्याधरों के पूजन से मिश्र जाति

⇒ वसुदेवों के पूजन से वराटक जाति

⇒ नागदेवों के पूजन से सान्धार जाति

⇒ नरेन्द्रों के पूजन से भूमिज जाति

⇒ सूर्यदेवों के पूजन से विमान-नागर जाति

⇒ चन्द्रमा के पूजन से विमान-पुष्पक जाति

⇒ पार्वती के पूजन से वलभी जाति

1. नीरज, जयसिंह-राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 59

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

⇒ हरसिद्धि आदि देवियों के पूजन के सिंहावलोकन जाति

⇒ व्यन्तर स्थित देवों के पूजन से फांसी के आकार वाली जाति

⇒ इन्द्रलोक के देवों के पूजन से रथारुह (दारुजादि) जाति।[1]

इनमें से आठ जातियों के प्रासाद उत्तम बताये गए है–

नागरा द्राविड़ाश्चैव भूमिजा लतिनास्तथा।
सावन्धारा विमानादि-नागराः पुष्पकांकिताः।।
मिश्रकास्तिलकैः शृंगैरष्टौ जातिषु चोत्तमा।
सर्वदेवेषु कर्त्तव्याः शिवस्यापि विशेषतः।।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन आठ जातियों के प्रासादों को विशेषकर महादेवजी के लिए बनाना श्रेयस्कर है।

प्रासाद के निर्माण के लिए भूमि का निरुपण आवश्यक है। इसके अतिरिक्त नक्षत्रों के शुभाशुभ का विचार, निर्माणकर्त्ता, स्थपति और जिस देवता का मन्दिर है इन सबका विचार किया जाता है। प्रासाद मण्डन में भूमिपरीक्षा[3] के विषय में कहा गया है कि जिस भूमि पर चारों दिशाओं में पानी का प्रवाह चलता हो अर्थात् वह चारों दिशाओं में नीची हो और बीच में ऊँची हो अथवा पूर्व, उत्तर और ईशान कोणों में नीची हो अर्थात् इन तीन दिशाओं में पानी का प्रवाह जाता हो, तो ऐसी भूमि शुभदायक होती है।

प्रासाद मण्डन[4] में बतलाया गया है कि प्रासाद और गृह आदि का सूत्रारम्भ तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद), हस्त, चित्रा, स्वाति, रोहिणी, पुष्य, मृगशीर्ष, अनुराधा, रेवती, धनिष्ठा और शतभिषा इन नक्षत्रों में करना चाहिए। शिला स्थापना हेतु शुभ नक्षत्र रोहिणी, श्रवण, हस्त, पुष्य, मृगशीर्ष, रेवती और तीनों उत्तरा नक्षत्र हैं।

देवालय के निर्माण-स्थान के विषय में कहा गया है कि नदी के तट, सिद्ध पुरुषों के निर्माण स्थान, तीर्थ, भूमि, शहर, गाँव, पर्वत की गुफाओं में, बावड़ी, वाटिका (उपवन) और तालाब आदि

---

1. जैन, भगवान दास (अनु.)-प्रासाद मण्डन, अध्याय-1, पृ. 3
2. प्रा. म. अध्याय-1, पद्य-7-8, पृ. 3
3. सर्वदिक्षु प्रवाहो वा प्रागुदक्शङ्करप्लवाम्।
   भूमिं परीक्ष्य संसिञ्चेत् पञ्चगव्येन कोविदः॥ (प्रा. म. अ.-1, पद्य-7, पृ. 3)
4. सूत्रारम्भो गृहादीनामुत्तरायां करत्रये।
   ब्राह्मे पुष्ये मृगे मैत्र्ये पौष्णये वासववारुणे॥
   शिलान्यासस्तु रोहिण्यां श्रवणे हस्तपुष्ययोः।
   मृगशीर्षे च रेवत्यामुत्तरात्रितये शुभः॥ (प्रा. म., अ.-1, पद्य-30-31, पृ. 21)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पवित्र स्थानों में देवालय बनाना चाहिए।[1] देवालय के निर्माण से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

काष्ठ, मिट्टी, ईंट, शिला, धातु और रत्न इन पदार्थों से मन्दिर निर्माण किया जाता है, इनमें उत्तरोत्तर का अधिक पुण्य है। पत्थर के प्रासाद का फल अनन्त कहा गया है

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृन्मये दशसङ्गुणम्।

ऐष्टके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं स्मृतम।।[2]

प्रासाद द्वार की दिशा के विषय में 'प्रासाद-मण्डन'[3] में कहा गया है कि प्रासाद का यदि एक द्वार रखना हो, तो पूर्व दिशा में, दो द्वार रखने हो तो पूर्व-पश्चिम दिशा में, तीन द्वार रखने हों तो दो द्वार के बीच में मुख्य द्वार रखना चाहिए। दक्षिणाभिमुख मुख्यद्वार नहीं होना चाहिए। शिव, ब्रह्मा और जिनदेव इनके प्रासादों में चारों दिशाओं में द्वार रखे जाते हैं। पूर्व, उत्तर और दक्षिण; पूर्व, पश्चिम और उत्तर; तथा दक्षिण, पश्चिम व उत्तर इस प्रकार तीन प्रकार के त्रिद्वार प्रशस्त हैं। प्रासाद में यदि दो द्वार बनाने हों तो पूर्व और पश्चिम दिशा में बनाने चाहिए। पूर्वदिशा का द्वार भक्ति देने वाला और पश्चिमदिशा का द्वार मुक्ति देने वाला माना गया है। जिनदेव के समवसरण-प्रासादों में दिशा का दोष नहीं होता है, इनका द्वार किसी भी दिशा में बना सकते हैं।

नागर जाति के मन्दिरों के विभिन्न भाग

विश्वकर्मा-प्रकाश, मत्स्य पुराण, भविष्य पुराण, बृहत्संहिता तथा समराङ्गणसूत्रधार वीस प्रकार के नागर-मन्दिरों का उल्लेख करते हैं। इनके नाम मेरु, मंदर, कैलाश, कुम्भ, मृगराज, गज, विमानच्छन्द, चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र, वर्तुल, सर्वतोभद्रक, सिंह, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंसक, वृष, गरुड़, पद्मक और समुद्र हैं।[4]

उत्तरकालीन नागर एवं लाट शैली के मन्दिरों की चर्चा भी मिलती है। इन मन्दिरों को 5 समूहों में वर्गीकृत किया गया है वैराज, कैलाश, पुष्पक, मणिक और त्रिविष्टप। वैराज नाम का प्रासाद चौकोर, कैलाश नामक प्रासाद गोल, पुष्पक नामक प्रासाद आयताकार, मणिक नामक प्रासाद अण्डाकार तथा त्रिविष्टप नामक प्रासाद अष्टकोणीय होता है।[5]

---

1. नद्यां सिद्धाश्रमे तीर्थे पुरे ग्रामे च गह्वरे।
   वापी-वाटी-तडागादि-स्थाने कार्यं सुरालयम्॥ (प्रा. म., अ.-1, पद्य-32, पृ. 21)
2. प्रा. म. अ.-1, पद्य-35, पृ. 22
3. एकद्वारं भवेत् पूर्वं द्विद्वारं पूर्वपश्चिमे।
   त्रिद्वारं मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यं विवर्जयेत्॥
   चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु शिवब्रह्मजिनालये।
   होमशालायां कर्त्तव्यं क्वचिद् राजगृहे तथा॥ (प्रा. म., अ.-5, पद्य-9-10, पृ. 97-98)
4. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय-74, पद्य-1-5, पृ. 143
5. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय-63, पद्य 7-8, पृ. 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नागरशैली के मन्दिर की बनावट को दो तरह से समझा जा सकता है एक ऊँचाई में नींव के ऊपर से जहाँ चबूतरा (जगती) आरम्भ होता है, ऊपर शिखर की चोटी तक को उसका 'ऊर्ध्व-छन्द' कहते हैं। दूसरा लम्बाई में गर्भगृह (जिस मण्डप में मूर्ति स्थापित की जाती है) से प्रवेशद्वार तक की लम्बाई को उसका 'तल-छन्द' कहते हैं। इस प्रकार मन्दिर का अध्ययन ऊर्ध्व-छन्द और तल-छन्द दो भागों में किया जा सकता है।

तलछन्द

तलछन्द की दृष्टि से मन्दिर के निम्नलिखत भाग होते हैं-

गर्भगृह

प्रासादपीठ के ऊपर गर्भगृह या मण्डोवर मनाया जाता है, जिसे वास्तविक रूप में प्रासाद का उदय भाग कहना चाहिए। मण्ड का अर्थ है पीठ या आसन और जो भाग उसके ऊपर बनाया जाता था, उसके लिए 'मण्डोवर' यह संज्ञा प्रचलित हुई। प्रासाद निर्माण में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतिमा का है, जिसकी स्थापना गर्भगृह में की जाती है। गर्भगृह तीन ओर से बन्द होता है और एक द्वार होता है। गर्भगृह में अधिकांशतया प्रकाश कम होता है। इसमें प्रायः बीच में उठी हुई वेदिका पर मूर्ति को स्थापित किया जाता है। मूर्ति के ठीक सामने गर्भगृह का द्वार होता है। गर्भगृह की छत पर प्रायः अलङ्करण भी किया जाता है। मन्दिर का मुख्य शिखर भी गर्भगृह के ऊपर बनाया जाता है। गर्भगृह के प्रवेशद्वार के सामने अन्य मण्डप बनाये जाते हैं।[1] 'प्रासाद मण्डन' के अनुसार गर्भगृह चार कोने वाला समचोरस बनाना चाहिए, उसमें भद्र, सुभद्र और प्रतिभद्र आदि फालना (खांचा) बनाना शुभ होता है, लम्बचोरस गर्भगृह दोषकारक होता है। यदि दारुणादि (लकड़ी से निर्मित) और वलभी (स्त्रीलिंग) जाति के प्रासाद में गर्भगृह लम्बा हो तो दोष नहीं लगता।[2] गर्भगृह के द्वार के चार भाग होते हैं देहली या उदुम्बर, दो पार्श्व स्तम्भ तथा उत्तरङ्ग या सिरदल इन चारों भागों का अनेक प्रकार से अलङ्करण किया जाता है। मण्डन के अनुसार उदुम्बर या देहली की चौड़ाई के तीन भाग करके बीच में मन्दारक और दोनों पार्श्वों में ग्रास या सिंहमुख बनाने चाहिए। मन्दारक (Festoon) गोल और पद्मपत्र युक्त बनाना चाहिए। ग्रास या सिंहमुख को कीर्तिवक्त्र या कीर्तिमुख भी कहा जाता है। देहली के दोनों ओर के पार्श्व स्तम्भों के नीचे तलरूपक नाम के दो अलङ्करण बनाए जाते हैं।[3] स्तम्भों में स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों को उकेरा जाता है। स्तम्भ के जिस भाग में ये आकृतियाँ उकेरी

1. वशिष्ठ, नीलिम-स्कल्पचर ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, पृ. 126
2. मध्ये युगास्रं भद्राढयं सुभद्रं प्रतिभद्रकम्।
   फालनीयं गर्भगृहं दोषदं गर्भमायतम्॥
   दारुजे वलभीनां तु आयतं च न दूषयेत्।
   प्रशस्त सर्वकृत्येषु चतुरस्रं शुभप्रदम्॥(प्रा. म. अ.-3, पद्य-33-34, पृ. 56-57)
3. द्वारव्यास त्रिभागेन मध्ये मन्दारको भवेत्।
   वृत्तं मन्दारकं कुर्याद् मृणालं पद्मसंयुतम्॥
   जाडयकुम्भः कणाली च कीर्त्तिवक्त्रद्वयं तथा।
   उदुम्बरस्य पार्श्वे च शाखायास्तलरूपकम्॥ (प्रा. म. अ.-3, पद्य-39-40, पृ. 58)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जाती हैं उसे रूपस्तम्भ या रूपशाखा कहा जाता है। अलङ्करणों के अनुसार इन शाखाओं के और नाम भी मिलते हैं। जैसे पत्र शाखा, सिंह शाखा, गन्धर्व शाखा, खल्व शाखा आदि। खल्व शाखा पर जो अलङ्करण बनाया जाता है, वह मटर आदि के बेलों के उठते हुए गोल प्रतानों के सदृश होता है। सूत्रधार मण्डन ने एक नियम बताया है कि गर्भगृह की दीवार में जितने फालने (खांचे) बनाए जाए, उतनी ही द्वार के पार्श्व स्तम्भ में शाखा रखनी चाहिए।[1] द्वार के दोनों पार्श्व स्तम्भों में कई फालना या भाग बनाए जाते हैं। इस प्रकार एक शाखा, त्रिशाखा, पञ्चशाखा, सप्तशाखा और नवशाखा तक के पार्श्वस्तम्भ युक्त द्वार बनाए जाते हैं। द्वार के उत्तरङ्ग या सिरदल भाग में, प्रासाद के गर्भगृह में जिस देव की मूर्ति प्रतिष्ठित हो, उस देव की मूर्ति बनानी चाहिए तथा शाखाओं में उस देव के परिवार का रूप बनाना चाहिए। उत्तरङ्ग में गणेश को भी स्थापित कर सकते हैं।[2]

गर्भगृह में देवों के पदस्थान के विषय में भगवानदास जैन ने 'वत्थुसार पयरण' के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि गर्भगृह के दो बराबर भाग करें, उनमें से दीवार की तरफ के भाग के पाँच भाग करें, इनमें दीवार वाले प्रथम भाग में यज्ञ को, दूसरे भाग में देवियों को, तीसरे भाग में कृष्ण (विष्णु) और सूर्य को, चौथे भाग में ब्रह्मा को और पाँचवें भाग में (गर्भगृह के मध्य भाग में) शिवलिङ्ग को स्थापित करें।[3]

अन्तराल

अन्तराल उस कक्ष को कहते हैं, जिसमें गर्भगृह का द्वार खुलता है। इसका दूसरा नाम कौली है। यदि मन्दिर में प्रदक्षिणापथ (परिक्रमा पथ) हुआ, तो उसका प्रवेश और निकास अन्तराल में ही खुलता है। इसके आगे महामण्डप होता है, जिसके स्तम्भ इसे महामण्डप से अलग करते हैं। अन्तराल में खड़े होकर गर्भगृह में प्रतिष्ठित भगवान् की मूर्ति के दर्शन किए जाते हैं। अन्तराल की चौड़ाई महामण्डप की चौड़ाई से कम होती है। इसकी लम्बाई महामण्डप की लम्बाई के बराबर या उससे कम या अधिक हो सकती है।[4]

महामण्डप

यह अन्तराल के आगे होता है। लम्बाई-चौड़ाई में यह मन्दिर का सबसे बड़ा कक्ष होता है। यह अनेक स्तम्भों पर आधारित होता है। इसकी दाँयी और बाँयी ओर की दीवारों में कहीं-कहीं द्वार बनाए जाते हैं। कहीं द्वार न बनाकर अलंकृत और कलापूर्ण गवाक्ष (झरोखा) बना दिए जाते है, जिनसे उसमें पर्याप्त प्रकाश आता रहता है। महामण्डप पर्याप्त ऊँचा होता है।[5] इसका वितान (Canopy)

---

1. प्रासाद मण्डन, अ.-3, पद्य-56, पृ. 65
2. यस्य देवस्य या मूर्तिः सैव कार्योत्तरङ्गके।
   शाखायां च परिवारो गणेशश्चोत्तरङ्गके॥ (प्रा. म. अ.-3, पद्य-68, पृ. 71)
3. प्रासाद-मण्डन, अ. 3, पृ. 74
4. चतुर्वेदी, श्री नारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 17
5. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय स्थापत्य, पृ. 334

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सामान्यतः वृत्ताकार या वर्गाकार होता है। ऊपर उठकर यह वृत्ताकार (गोल) हो जाता है। इस वितान में सामान्यतः बड़ी कलापूर्ण नक्काशी की जाती है। चूंकि वितान गोल होता है इसलिए नीचे से ऊपर जाते हुए उसकी परिधि कम होती जाती है। इस परिधि में एक दूसरे के ऊपर जो **थर** बनाए जाते हैं वे ऊपर उठते हुए क्रमशः छोटे होते जाते हैं। इनमें तरह-तरह के पुष्पों, पशुओं, देवी-देवताओं की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। कहीं-कहीं बीच-बीच में देवाङ्गनाओं, गन्धर्वों, विद्याधरों की बड़े आकार की मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। वितान का यह भाग 'रूपकण्ठ' कहलाता है। सबसे ऊपर, बीचों-बीच केन्द्र में एक विशाल और वृत्ताकार कमल आदि से अलंकृत गोल पत्थर लगाया जाता है, जो वितान की छत से झूमर की तरह दिखाई पड़ता है। इस अलङ्करण को 'पद्मशिला' कहा जाता है। महामण्डप के ऊपर जो शिखर होता है, उसे 'घूमट' कहा जाता है, इसका दूसरा नाम घण्टी भी है। यह मुख्य शिखर से भिन्न होता है। मुख्य शिखर जहाँ उदीयमान होता है, वहीं घूमट बैठा हुआ होता है। इसकी चौड़ाई की अपेक्षा ऊँचाई बहुत कम होती है। इसके ऊपर की बनावट को संवरणा कहा जाता है।[1] इसे सांभरण[2] भी कहा जाता है। संवरणा की चोटी पर बड़ी या मूल घंटिका लगाई जाती है। संवरणा में छोटी-बड़ी घंटियों, और सिंहों की मूर्तियों को क्रमशः छोटे होते हुए स्तरों में अनेक प्रकार से लगाकर उसे आकर्षक रूप दिया जाता है।

अर्द्धमण्डप

यह महामण्डप के आगे स्थित होता है और इससे छोटा होता है। इसमें भी छोटा वितान होता है और इसके ऊपर घूमट भी होता है। बहुत बड़े मन्दिरों में नृत्य-मण्डप, रङ्गमण्डप आदि मण्डप भी बनाए जाते हैं।[3]

प्रवेशद्वार

प्रवेशद्वार या तो एक चतुष्किका में खुलता है या अर्द्धमण्डप में। मुख्य द्वार या तो अलंकृत चौखट का होता है या तोरण के रूप में। जगती के चबूतरे पर से मन्दिर में प्रवेश करने का यही मुख्य द्वार है और इसके आगे सीढियाँ बनी होती हैं। द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल[4] ने अमरकोष का उद्धरण देते हुए लिखा है **पुरद्वारं तु गोपुरम्**। अतः गोपुरम् का अर्थ 'द्वार' है।

सभी मण्डपों की गरिमा और गवाक्षों का बहुत-कुछ सौन्दर्य स्तम्भों के कारण होता है। स्तम्भ के भागों में आधार पर कुम्भिका, फिर स्तम्भ, भरणी, शीर्ष और उच्छालक होते हैं। स्तम्भ की बैठकी (जिस पर स्तम्भ खड़ा किया जाता है) **कुम्भिका** कहलाती है। इसके ऊपर स्तम्भ होता है। यह चौकोर, षट्कोणीय, अष्टकोणीय या गोल हो सकता है या इसका एक भाग चौकोर हो और ऊपर का भाग अष्टकोणीय या गोल हो सकता है। स्तम्भ का ऊपरी सिरा **'भरणी'** है जिसका नीचे

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 17
2. प्रासाद-मण्डन, प्रस्तावना, पृ. 10
3. ना. शै. के न. हि. म., पृ. 17
4. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय स्थापत्य, पृ. 341

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का भाग 'आमलक' और ऊपर का भाग **'पद्म'** कहलाता है। 'भरणी' स्तम्भ से कुछ बड़ी होती है। भरणी के ऊपर उसका शीर्ष होता है। यह चारों ओर खम्भे से आगे निकला हुआ होता है। इसमें कलश, देवी-देवताओं आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। स्तम्भ सामान्यतः शीर्ष पर समाप्त हो जाता है किन्तु जहाँ उसे अधिक ऊँचा करना होता है, वहाँ उसके शीर्ष के ऊपर स्तम्भ की चौड़ाई का एक दूसरा स्तम्भ लगा दिया जाता है जो मुख्य स्तम्भ से प्रायः 1/4 लम्बा होता है। इसके ऊपर भी शीर्ष होता है।[1]

प्रासाद-मण्डन में आकृति से स्तम्भसंज्ञा को बतलाते हुए कहा गया है कि चार कोना वाला चतुरस्र, भद्रवाला भद्रक, प्रतिरथवाला वर्द्धमान, आठ कोना वाला अष्टास्र और आसन के ऊपर से भद्र और आठ कोना वाला स्वस्तिक नाम का स्तम्भ कहा जाता है।[2]

उर्ध्वछन्द

उर्ध्वछन्द के तीन मुख्य भाग हैं-

जगती

प्रासादमण्डन के अनुसार प्रासाद की मर्यादित भूमि को जगती कहते हैं। जैसे राजा का सिंहासन रखने के लिए अमुक स्थान मार्यादित रखा जाता है, वैसे प्रासाद बनाने के लिए अमुक भूमि मर्यादित रखी जाती है।[3] जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अङ्ग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार प्रासाद-पुरुष जगत्याश्रित ही है। जगती पर नाना परिवार देवों की मढियां (Smaller shrines) भी चारों ओर विन्यासित की जाती है। यह परम्परा पञ्चायतन पूजा-परम्परा के अनुरूप है। अपराजितपृच्छा के अनुसार- **'प्रासादो लिंगमित्युक्तो जगती पीठमेव च।'**[4] प्रासाद शिवलिङ्ग का स्वरूप है। जैसे शिवलिङ्ग के चारों तरफ पीठिका है, वैसे ही प्रासाद के जगती रूप पीठिका है। समचोरस, लम्ब चोरस, आठ कोने वाली, गोल और लम्ब गोल भेद से जगती के पाँच आकार हैं। इसलिए प्रासाद का जैसा आकार हो, वैसी ही जगती बनानी चाहिए।[5]

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 21-22
2. प्रासाद-मण्डन, अ.-7, पृ. 121
3. प्रासादानामधिष्ठानं जगती सा निगद्यते।
   यथा सिंहासन राज्ञः प्रासादस्य तथैव सा॥ (प्रा. म., अ. 2, पद्य-1, पृ. 25)
4. अपराजितपृच्छा, सूत्र-115, पद्य-5
5. चतुरस्रायताष्टास्रा वृत्ता वृत्तायता तथा।
   जगती पञ्चधा प्रोक्ता प्रासादस्यानुरूपतः॥ (प्रा. म., अ. 2, पद्य-2, पृ. 25)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जगती के मध्य में मन्दिर का निर्माण किया जाता है। यह कई फुट ऊँची व अनेक मन्दिरों में यह बृहदाकार होती है। इसकी दीवार सीधी सपाट न होकर नीचे कुछ आगे निकली हुई होती है। इसके नीचे से ऊपर तक चारों तरफ उभरी अलङ्करण की पट्टियाँ होती हैं। इन पट्टियों को 'थर' कहते हैं। थरों की संख्या जगती की ऊँचाई पर निर्भर होती है। इनमें पशुओं, मनुष्यों या पुरुष आदि के अलङ्करण होते हैं। जगती के थर मान के विषय में प्रासादमण्डन में कहा गया है कि जगती की ऊँचाई के 28 पद या भाग करके उसमें तीन पद का जाड्यकुम्भ, दो पद की कणी, तीन पद का दासा जो पद्मपत्र से युक्त हो, दो पद का खुरक, उसके ऊपर सात भाग का कुम्भ, फिर तीन पद का कलश, एक भाग का अन्तर्पत्रक, तीन भाग की कपोतली, चार भाग का पुष्पकण्ठ होना चाहिए।[1] जगती के चारों ओर प्राकार या दीवार और चार द्वार-मण्डप, जल निकालने के लिए मकराकृति की नाली, सोपान और तोरण भी इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं। मण्डप के सामने जो प्रवेशद्वार हो उसके आगे सोपान में शुण्डिकाकृति हथिनी बनाई जाती है। तोरण की रचना में नाना प्रकार के रूप या मूर्तियों की शोभा बनाई जाती है। तोरण के कई प्रकार हैं। जैसे घटाला तोरण, तलक तोरण, हिण्डोला तोरण आदि।[2]

मण्डोवर

जगती (चबूतरे) के मध्य में मन्दिर बनाया जाता है। मध्यभाग, जिसमें मूर्ति स्थापित होती है, उसकी तथा उसके सामने के मण्डपों की दीवारें इसमें सम्मिलित है। इसके बाहर जो किनारे निकलते हैं, उसके नीचे के भाग को 'पीठ' कहते हैं। इस पीठ की जितनी ऊँचाई होती है, उसी के बराबर गर्भगृह का फर्श रखा जाता है। प्रासाद पीठ के निर्माण के लिए भी विभिन्न थरों का विधान है। जैसे नौ अंश का जाड्यकुम्भ, सात भाग की अन्तर्पत्र के साथ कर्णिका, कपोतालि या केवाल के साथ सात भाग की ग्रासपट्टी (जिसमें सिंहमुख की आकृति बनी रहती है।) और फिर उसके ऊपर बारह भाग का गज-थर, दस भाग का अश्व-थर और आठ भाग का नर-थर बनाया जाता है।[3] गज, अश्वादि रूपों वाली पीठ को छोड़कर जाड्यकुम्भ व कर्णिका और केवाल के साथ ग्रासपट्टी वाली साधारण पीठ बनाएँ, उसको कामदपीठ कहते हैं तथा जाड्यकुम्भ और कर्णिका ये दो थरवाली पीठ वनावें, उसको कणपीठ कहते हैं।[4]

---

1. प्रासाद मण्डन, अ. 2, पद्य 11-14, पृ. 28
2. प्राकारैर्मण्डिता कार्या चतुर्भिर्द्वारमण्डपैः।
   मकरैर्जलनिष्कासैः सोपानैस्तोरणादिभिः॥
   मण्डपाग्रे प्रतोल्यग्रे सोपानं शुण्डिकाकृतिम्।
   तोरणं कारयेत् तस्य पदपदानुसारतः॥ (प्रा. म. अ. 2, पद्य 15-16, पृ. 28, 30)
3. प्रासाद मण्डन, अ. 3, पद्य 7-9, पृ. 46
4. कामदं कणपीठं च जाड्यकुम्भश्च कर्णिका।
   लतिने निर्गमं हीनं सान्धारे निर्गमाधिकम्॥ (प्रा. म. अ. 3, पद्य 13, पृ. 46)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मण्डोवर के बाहर निकले किनारों के ऊपरी भाग को **'अधिष्ठान'** कहते हैं। चबूतरे के एक कोने पर गर्भगृह बनाया जाता है। गर्भगृह की तीनों तरफ की दीवारों की नींव सीधी नहीं खोदी जाती। बीच में उनका कुछ भाग आगे निकला होता है। इस आगे निकले भाग को **'भद्र'** कहते है, और जो भाग पीछे होता है, वह **'प्रतिभद्र'** कहलाता है। दीवार का अन्तिम पीछे हटा हुआ भाग, जहाँ से दीवार पार्श्व में मुड़ती है, **'कर्ण'** (कोना) कहलाता है। एक दीवार में 'भद्र' तो एक ही होता है किन्तु उसके दोनों ओर **'प्रतिभद्र'** दो, तीन या अधिक हो सकते हैं। इन्हीं के ऊपर से मण्डोवर की दीवारें उठती हैं और ये उनके 'उद्गम' कहलाते हैं। इस कारण मण्डोवर की दीवारें कटावदार मालूम होती है। मण्डोवर में यदि प्रदक्षिणापथ हुआ तो यह दीवार उसकी बाहरी दीवार होती है और प्रदक्षिणापथ के बाद गर्भगृह के बीच में दूसरी सीधी भीतरी-दीवार होती है। यदि प्रदक्षिणापथ न हुआ तो यही गर्भगृह की दीवार हो जाती है। गर्भगृह की इस बाहरी-दीवार को **'जंघा'** कहते हैं। नागरी, लाटी, वैराटी और द्राविड़ी ये चार प्रकार की जंघा हैं। **नागरी-जंघा** बिना किसी प्रकार के रूप की और शुद्ध सादी है। स्त्री युगल के रूप वाली **लाटी-जंघा** है, कमल पत्रों वाली **वैराटी-जंघा** है, बहुत मञ्जरी वाली **द्राविड़ी-जंघा** है। मध्यप्रदेश में **नागरी-जंघा**, लाट देश में **लाटी-जंघा**, दक्षिण देश में **द्राविड़ी-जंघा** और सारे देश में **वैराटी-जंघा** प्रसिद्ध है।[1] यदि प्रदक्षिणापथ हुआ तो इस जङ्घा के बीच में गवाक्ष(अलंकृत झरोखे) बना दिए जाते हैं। इन झरोखों में आगे निकले हुए छज्जे होते हैं, जिन्हें 'दण्डछाद्य' कहते हैं। इनके ऊपर एक अलंकृत निर्माण होता है, जिसे **'रथिका'** कहते है। इसका ऊपरी भाग **'तिलक'** कहलाता है। जङ्घा के ऊपरी भाग को (जो गर्भगृह की छत के ठीक नीचे होता है) **'वरण्डिका'** कहलाता है। जङ्घा की दीवार की चौड़ाई में देवी-देवताओं, देवाङ्गनाओं आदि की मूर्तियाँ लगायी जाती हैं।[2]

मण्डोवर के उदय को 144 भागों में बाँटा जाता है। यह ऊँचाई प्रासाद पीठ के मस्तक से छज्जे तक ली जाती है। इसके भाग ये हैं खुरा 5 भाग, कुम्भक 20 भाग, कलश 8 भाग, अन्तराल $2\frac{1}{2}$ भाग, केवाल 8 भाग, मंची 9 भाग, जङ्घा 35 भाग, उद्गम (उरः जङ्घा) 15 भाग, भरणी 8 भाग, शिरावटी 10 भाग, ऊपर की कपोतालि 8 भाग, अन्तराल $2\frac{1}{2}$ भाग और छज्जा 13 भाग।[3] एक विशेष प्रकार का मण्डोवर **'मेरु मण्डोवर'** कहलाता है, इसमें तीन जङ्घायें और दो छज्जे बनाए जाते हैं। प्रत्येक जङ्घा में भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती है।[4]

---

1. नागरी च तथा लाटी वैराटी द्राविड़ी तथा
   शुद्धा तु नागरी ख्याता परिकर्म विवर्जिता
   स्त्रीयुग्मसंयुता लाटी वैराटी पत्रसङ्कुला
   मञ्जरी बहुला कार्या जङ्घा च द्राविड़ी सदा
   नागरी मध्यदेशेषु लाटी लाटे प्रकीर्तिता
   द्राविड़ी दक्षिणे देशे वैराटी सर्वदेशजा।
2. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 19
3. प्रासाद मण्डन, अ. 3, पद्य-20-24, पृ. 49-50
4. प्रा. म., भूमिका, पृ. 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिखर

जङ्घा के ऊपर की वरण्डिका से जहाँ गर्भगृह का पटाव होता है, शिखर आरम्भ होता है। यह शिखर चौकोर होता है। इसमें भी प्रत्येक ओर उद्गम की तरह भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण होते हैं किन्तु ये दीवारों के कटावों की तरह गहरे नहीं होते। इसके भद्र और प्रतिभद्र को **'रथ'** और **'प्रतिरथ'** कहते है। रथ और प्रतिरथों की संख्या के अनुसार शिखर को त्रिरथ या पञ्चरथ कहते हैं। शिखर का सौन्दर्य सबसे अधिक उन नकली शृङ्गों के कारण होता है, जो रथ पर बनाए जाते हैं और शिखर उभरे हुए उसी के छोटे भाग होते है, इन्हें **'ऊरुशृङ्ग'** कहते है। इन ऊरुशृङ्गों के अतिरिक्त स्थपति शिखर में अनेक छोटे-छोटे शृङ्ग बनाकर उसकी शोभा बढ़ा देते हैं। ये बहुधा 'वरण्डिका' के ऊपर या 'रथों' के बीच में बनाए जाते हैं, इन्हें 'कर्णशृङ्ग' कहते हैं।[1] भगवानदास जैन के अनुसार मण्डोवर के छज्जे के ऊपर दो-एक थर और लगाकर तब शिखर का प्रारम्भ करते हैं। शिखर के नीचे का भाग मण्डोवर के पटाव के आकार का होता है, किन्तु वह ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है, त्यों-त्यों संकरा होता जाता है और कोणाकार रूप धारण कर लेता है। किन्तु वह एक निश्चित ऊँचाई पर जाकर रुक जाता है। इस भाग को (जहाँ शिखर का बढ़ना रुक जाता है) 'स्कन्ध' कहते हैं। स्कन्ध के ऊपर स्कन्ध से छोटी पत्थर की गोल शिला रख दी जाती है, इसे **'ग्रीवा'** कहते है।[2] गोल शिला पर आँवले के आकार की एक ओर विशाल शिला लगा दी जाती है, इसे **'आमलक'** कहते हैं। दूसरे से देखने पर 'आमलक' आँवले की प्रतिकृति मालूम होता है। आमलक के ऊपर गोलार्द्ध में, क्रमशः छोटे होते हुए कमलदल से अलंकृत गोल पत्थ लगाये जाते है, जिन्हें 'चन्द्रिका' कहते है। चन्द्रिका के ऊपर इससे छोटा एक आमलक लगाया जाता है। जिसे 'आमलसारिका' कहते है। इस पर एक विशाल कलश स्थापित किया जाता है।[3] 'प्रासाद मण्डन' में कलश की उत्पत्ति और स्थापना के विषय में कहा गया है कि जब देवों ने क्षीर समुद्र का मन्थन किया, जब उसमें से चौदह रत्न प्राप्त हुए थे। इन चौदह रत्नों में एक काम कुम्भ नाम का श्रेष्ठ कलश भी प्राप्त हुआ था। यह प्रासाद के अग्र भाग (शिखर) पर और सभी माँगलिक स्थानों में विद्वानों द्वारा स्थापित किया जाता है।[4] प्रसादमण्डन में सुवर्णपुरुष (प्रासाद पुरुष) की स्थापना के विषय में कहा गया है। आमलसार के गर्भ में घी से भरा हुआ सोना, चाँदी अथवा ताँबे का कलश सुवर्ण पुरुष के पास रखना चाहिए तथा चाँदी अथवा चन्दन का पलङ्ग रखे, उसके ऊपर रेशम की शय्या बिछा करके उस पर सुवर्ण पुरुष को शयन कराना चाहिए। यह विधि शुभ दिन में वास्तु पूजन करके करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रासाद का मर्मस्थान है।[5] प्राचीन

---

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 16
2. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय स्थापत्य, पृ. 321
3. ना. शै. के न. हि. म., पृ. 19
4. क्षीरार्णवे समुत्पन्नं प्रासादस्याग्रजातकम्।
   माङ्गल्येषु च सर्वेषु कलशं स्थापयेद् बुधः॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-36, पृ. 87-88)
5. घृतपात्रं न्यसेन्मध्ये ताम्रतारं सुवर्णजम्।
   सौवर्णपुरुषं तत्र तुलीपर्यङ्कशायिनम्॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-34, पृ. 86)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

समय में कभी-कभी सोने का कलश लगाया जाता था या ताँबे के कलश पर सोना चढ़ाकर लगाया जाता था। आजकल प्रायः स्वर्णमण्डित ताँबे के कलश ही लगाये जाते हैं। उसका आकार शिखर के आकार के अनुपात में होता है। इसको ढ़कने के लिए प्रायः नारियल के आकार का धातु या पत्थर का ढ़कना लगाया जाता है, जिसे **'वीजापूरक'** कहा जाता है।[1]

शिखर के सामने, अन्तराल के ऊपर, जो निर्माण किया जाता है, उसे **'शुकनासिका'** कहते हैं। शिखर की प्रायः 2/3 ऊँचाई पर यह निर्माण समाप्त हो जाता है और इसके शीर्ष पर सिंह की एक मूर्ति लगा दी जाती है। यह शुकनासिका शिखर के आगे होती है और दर्शकों को वह शिखर का ही भाग मालूम होती है, किन्तु घूमट की तरह उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। शुकनासा, प्रासाद या देव-मन्दिर की नासिका के समान है।[2]

प्रासादमण्डन में ध्वजा के विषय में बतलाया गया है कि प्रासाद के शिखर के पिछले भाग में दाहिनी प्रतिरथ में ध्वजादण्ड रखने का छिद्रवाला स्थान **ध्वजाधार** (कलाबा) बनाना चाहिए। यह पूर्वाभिमुख प्रासाद के ईशान कोने में और पश्चिमाभिमुख प्रासाद के नैर्ऋत्य कोने में बनाना चाहिए।[3] ध्वजा के माहात्म्य के विषय में कहा गया है कि तैयार हुए प्रासाद के शिखर को ध्वजा रहित देखकर असुर (राक्षस) उसमें रहने की इच्छा करते हैं। इसलिए देवालय को ध्वजा रहित नहीं रखना चाहिए।[4] दशाश्वमेध यज्ञ करने से और समस्त भूतल की तीर्थयात्रा करने से जो पुण्य होता है, वही पुण्य प्रासाद के ऊपर ध्वजा चढ़ाने से होता है।[5] ध्वजा चढ़ाने वाले के वंश की पहले की 50 और बाद की 50 तथा एक अपनी, इस तरह कुल एक सौ एक पीढी के पूर्वजों को नरकरूपी समुद्र से यह ध्वजा पार करवा देती है अर्थात् उद्धार करती है।[6]

जिन प्रासाद का विवेचन

जैनधर्म में 'मन्दिर' और 'आत्मा', इन दोनों शब्दों से भी प्राचीन शब्द है 'आयतन', जिसका अस्तित्व महावीर के काल में भी था, क्योंकि वे अपने विहारों के समय यक्षायतनों में ठहरा करते थे। बाद में इस आयतन शब्द का उपयोग जिनायतन शब्द के अन्तर्गत होने लगा और उसके भी बाद मन्दिर, आलय, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया।[7] जैन और ब्राह्मण मन्दिरों की रचना

1. चतुर्वेदी, श्रीनारायण-नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 20
2. ना. शै. के न. हि. म., पृ. 21
3. प्रासाद पृष्ठदेशे तु दक्षिणे तु प्रतिरथे।
   ध्वजाधारस्तु कर्त्तव्य ईशाने नैर्ऋतेऽथवा॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-40, पृ. 89)
4. निष्पन्नं शिखरं दृष्ट्वा ध्वजहीने सुरालये।
   असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीनं न कारयेत्॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-48, पृ. 93)
5. ध्वजोच्छ्रायेण तुष्यन्ति देवाश्च पितरस्तथा।
   दशाश्वमेधिकं पुण्यं सर्वतीर्थधरादिकम्॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-49, पृ. 94)
6. पञ्चाशत् पूर्वतः पश्चाद्-आत्मानं च तथाधिकम्।
   शतमेकोत्तरं सोऽपि तारयेन्नकार्णवात्॥ (प्रा. म. अ. 4, पद्य-50, पृ. 99)
7. घोष, अमलानन्द-जैन कला एवं स्थापत्य, भाग-3, पृ. 515-516

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना है कि जैनमन्दिरों के स्तम्भों, छतों आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्ध रखने वाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ दर्शायी जाती हैं। जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती है, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती है। सामान्यतः जैनमन्दिरों की विशेषताएँ हैं[1]–

⇒ इनके आङ्गन के चारों ओर स्तम्भ युक्त छोटे-छोटे मन्दिरों का समूह होता है और इस मन्दिर-समूह के मध्य में मुख्य-मन्दिर का निर्माण किया जाता है।

⇒ इन मन्दिरों का मुख चारों ओर होता है और प्रतिमा भी चतुर्मुखी होती है।

राजस्थान के जैनमन्दिर-समूह की अपनी निजी विशेषता है। जैन कलाकारों ने पर्वतीय स्थानों में पहाड़ियों को खोदकर एवं उनके शिखरों पर भी जैन देवालयों का निर्माण किया, जिससे वह स्थान 'मन्दिर' बन गया। जैन वास्तुकला का एक प्रमुख अङ्ग **मानस्तम्भ** है। मध्यकाल में जैनमन्दिर के सम्मुख विशाल स्तम्भ निर्मित करने की प्रथा विशेषतः दिगम्बर जैन समाज में रही है। यह मान-स्तम्भ इन्द्रध्वज का प्रतीक अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। इन मानस्तम्भों पर मूर्तियों एवं लेखों का अङ्कन किया जाता था। आबू (देलवाड़ा) में भी एक जैन कीर्तिस्तम्भ है।[2]

जैनमन्दिरों में गूढ़मण्डप, चौकी मण्डप, नृत्य मण्डप, इन तीनों मण्डपों का होना आवश्यक माना गया है। प्रासादमण्डन में कहा गया है कि जिनदेव के गर्भगृह के आगे **गूढ़मण्डप**, इसके आगे चौकी वाले मण्डप **त्रिकमण्डप** और इसके आगे **नृत्यमण्डप** इस प्रकार अनुक्रम में तीन मण्डप बनावें।[3]

गूढ़मण्डप

भित्तियों से घिरा मण्डप गूढ़मण्डप कहलाता है। 'प्रासादमण्डन' में गूढ़मण्डप की आठ जातियाँ बतलाई गई हैं। इन आठ प्रकार के गूढ़मण्डपों की भी दीवार प्रासाद के दीवार जैसी बनानी चाहिए अर्थात् प्रासाद की दीवार जितने थरवाली हों उतने थरवाली और जितने रूपों की आकृति वाली हो उतने रूपों की आकृति वाली गूढ़मण्डप की दीवार बनानी चाहिए–

मुखभद्रयुतो वापि द्वित्रिप्रतिरथैर्युतः।

कर्णोदकान्तरेणाथ भद्रोदकविभूषितः।।[4]

चौकी मण्डप

गूढ़मण्डप के आगे एक चौकी वाला **सुभद्र**, तीन चौकी वाला **किरीटीर**, चार चौकी वाला

1. जैन भूपेन्द्रनाथ-जैन विद्या के विविध आयाम, पृ. 198
2. जैन भूपेन्द्रनाथ-जैन विद्या के विविध आयाम, पृ. 198-199
3. गूढस्त्रिकस्तथा नृत्यः क्रमेण मण्डपास्त्रयः।
   जिनस्याग्रे प्रकर्त्तव्याः सर्वेषां तु बलाणकम्॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य 3, पृ. 117)
4. प्रासाद मण्डन अ.-7, पद्य-17, पृ. 124

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दुंदुभी, छः चौकी वाला **प्रान्त**, सात चौकी वाला **मनोहर**, तीन-तीन चौकी की तीन लाइन—ऐसा नव चौकी वाला **शान्त** नाम का मण्डप कहा जाता है। शान्तमण्डप के आगे एक चौकी हो तो **नन्द**, शान्तमण्डप के आगे चौकी न तो, परन्तु दोनों वगल में एक-एक चौकी हो तो सुदर्शन, शान्तमण्डप के आगे और दोनों वगल में एक-एक चौकी हो तो **रम्यक**, तीन-तीन चौकी वाली चार लाईन हो तो सुनाभ, सुनाभ मण्डप के दोनों बगल में एक-एक चौकी हो तो **सिंह** और सिंह मण्डप के आगे एक चौकी हो तो सूर्यात्मक नाम का मण्डप कहा जाता है। इन मण्डपों के ऊपर गूमट अथवा सवंरणा किया जाता है। ये मण्डप समचोरस आदि आकृति वाले और अनेक प्रकार के वितान (चन्दोवा) वाले होते हैं।[1]

मण्डप आदि के ऊपर गुमटी के स्थान पर सवंरणा की जाती है। सवंरणा, छत के तिर्यक रेखाओं में आयोजित भागों पर घंटिकाओं के आकार के लघु शिखर होते हैं। इसके पच्चीस भेद है—पुष्पिका, नन्दिनी, दशाक्षा, देवसुन्दरी, कुलतिलका, रम्या, उद्भिन्ना, नारायणी, नलिका, चम्पका, पद्मा, समुद्भवा, त्रिदशा, देवगान्धारी, रत्नगर्भा, चूडामणि, हेमकूटा, चित्रकूटा, हिमारण्या, गन्धमादिनी, मन्दरा, मालिनी, कैलासा, रत्नसंभवा और मेरुकूटा।[2]

छत के नीचे के तल भाग को **वितान चान्दनी** अथवा **चन्दोवा** कहते है। इसके मुख्य तीन भेद ह—

⇒ छत में जो लटकती आकृति हो, वह **'क्षिप्त वितान'** है।

⇒ छत की आकृति ऊँची गोल गुम्बज के जैसी हो वह **'उत्क्षिप्त वितान'** है।

⇒ यदि छत समतल हो तो उसे **'समतल वितान'** कहते है। यह बिल्कुल सादी अथवा अनेक प्रकार के चित्रों से चित्रित की हुई अथवा खुदाई वाली होती है।

वितान अनेक प्रकार के चित्रों से शोभायमान बनावें तथा संगीत और नृत्य करती हुई देवांगनाओं से और पुराणादि के अनेक प्रकार के कथारूपों से सुशोभित बनाना चाहिए।

---

1. एकत्रिवेदषट्सप्ताङ्कचतुष्क्यस्त्रिकत्रये।
अग्रे भद्रं विना पार्श्वे पार्श्वयोरग्रतस्तथा॥
अग्रतस्त्रिचतुष्क्यश्च तथा पार्श्वद्वयेऽपि च।
मुक्तकोणे चतुष्के चेदिति द्वादश मण्डपाः॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य-22-23, पृ. 126)

2. पुष्पिका नन्दिनी चैव दशाक्षा देवसुन्दरी।
कुलतिलका रम्या च उद्भिन्ना च नारायणी॥
नलिका चम्पका चैव पद्माख्या च समुद्भवा।
त्रिदशा देवगांधारी रत्नगर्भा चूड़ामणिः॥
हेमकूटा चित्रकूटा हिमाख्या गन्धमादिनी।
मन्दरा मालिनी ख्याता कैलासा रत्नसम्भवा॥
मेरु कूटोद्भवा ख्याताः संख्यया पञ्चविंशतिः। (अ. पृ. सूत्र-193, पद्य 2-5)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चौकी मण्डप के आगे रङ्गभूमि होती है अर्थात् समस्त मण्डपों की पीठ के नीचे की जो भूमि है, वह रङ्गभूमि कहलाती है, वह बड़े लम्बे-चौड़े पाषाणों से तथा अनेक प्रकार के विचित्र पाषाणों से बनानी चाहिए।[1]

नृत्यमण्डप

रङ्गभूमि के ऊपर ही नृत्यमण्डप का निर्माण किया जाता है। इसे सभी प्रासादों के आगे बनाना चाहिए।[2] बलाणक अर्थात् आवृत्त-सोपानवद्ध-प्रवेशद्वार के विषय में प्रासादमण्डन में बतलाया गया है कि देवालय के द्वार के आगे तथा प्रवेशद्वार के ऊपर, राजमहल, गृह, नगर और जलाश्रय (बावड़ी, तालाब आदि) इन सब के द्वार के आगे मुखमण्डप (बलाणक) बनाना चाहिए।[3] मण्डप का द्वार और बलाणक का द्वार मुख्य प्रासाद के द्वार के बराबर रखना चाहिए। बलाणक की उर्ध्वभूमि नृत्यमण्डप के समसूत्र में रखनी चाहिए तथा मत्तवारण, वेदी, वितान और तोरणों से शोभायमान बनानी चाहिए।[4] इसके पाँच भेद बताए गए हैं वामन, विमान, पुष्कर, हर्म्यशाल तथा गोपुर।[5]

समवसरण

जिन प्रासाद के आगे समवसरण का निर्माण किया जाना चाहिए। समवसरण वह देवनिर्मित सभा है, जहाँ देवता, मनुष्य एवं पशु जिनों के उपदेशों का श्रवण करते हैं। कैवल्य प्राप्ति के बाद प्रत्येक जिन अपना पहला उपदेश समवसरण में ही देते है। जैनग्रन्थों के अनुसार समवसरण तीन प्राचीरों वाला भवन है। इसमें ऊपर (मध्य में) ध्यानमुद्रा में एक जिन आकृति (पूर्वाभिमुख) बैठी होती है। समवसरण के प्रत्येक प्राचीर में चार प्रवेशद्वारों तथा अनेक समीप विभिन्न आयुधों से युक्त द्वारपाल मूर्तियों के उत्कीर्णन का विधान है। जैन परम्परा के अनुसार जिनों के समवसरणों में सभी को प्रवेश का अधिकार प्राप्त है और इस अवसर पर समवसरण में उपस्थित होने वाले मनुष्यों और पशुओं में आपस में किसी प्रकार का द्वेष या वैमनस्य नहीं रह जाता। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए मूर्त अङ्कनों में सिंह-मृग, सिंह-गज, सर्प-नकुल एवं मयूर-सर्प जैसे परस्पर शत्रुभाव वाले जीवों को साथ-साथ, आमने-सामने दिखाया जाता है।[6]

---

1. एकादशशतान्येव वितानानां त्रयोदश।
   शुद्ध सङ्घाटमिश्राणि क्षिप्तोत्क्षिप्तानि यानि च॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य-35, पृ. 132)
2. त्रिकाग्रे रङ्गभूमिर्या तत्रैव नृत्यमण्डपः।
   प्रासादाग्रेऽथ सर्वत्र प्रकुर्याच्च विधानतः॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य-25, पृ. 129)
3. वलाणकं देवगेहागे राजद्वारे गृहे पुरे।
   जलाश्रयेऽथ कर्त्तव्यं सर्वेषां मुखमण्डपम्॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य-38, पृ. 134)
4. उर्ध्वा भूमिः प्रकर्त्तत्या नृत्यमण्डपसूत्रतः।
   मत्त्वारणं वेदी च वितानं तोरणैर्युता॥ (प्रा. म. अ. 7, पद्य-44, पृ. 135)
5. प्रा. म. अ.-7, पृ. 135-136
6. तिवारी, मारुति नन्दन-जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 152-153

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जिन प्रासाद में देवकुलिका क्रम

जिन प्रासाद का निर्माण इस तरह करना चाहिए कि उसके चारों तरफ बहत्तर, बावन अथवा चौबीस देवकुलिकाएँ स्थित हों। जिन प्रासाद के बाँयी और दाहिनी ओर सत्रह-सत्रह, पीछे के भाग में नौ और आगे आठ-ऐसे इक्यावन देवकुलिका और एक मुख्य प्रासाद मिलकर कुल बावन जिनालय कहा जाता है। यदि जिन प्रासाद के बांयी ओर दाहिनी ओर पच्चीस-पच्चीस, पीछे की तरफ ग्यारह और आगे की तरफ दस-ऐसे इकहत्तर देवकुलिका और एक मुख्य प्रासाद मिलकर कुल बहत्तर जिनालय कहा जाता है। मुख्य जिन प्रासाद के आगे, दाहिनी और बाँयी ओर-ऐसे तीन दिशा में आठ-आठ देवकुलिका बनाने से कुल चौबीस जिनालय कहा जाता है। ये सब देवकुलिकाएँ जगती के प्रान्त भाग में स्थापित की जाती हैं।[1]

विश्वकर्मा ने बावन जिनप्रासादों का वर्णन किया है जिनमें पच्चीस तो चौबीस तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् है, नेमिनाथ के दो हैं, और शेष सत्ताइस सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों के है– कमलभूषण, कामदायक, रत्नकोटि, क्षितिभूषण, पद्मराग, पुष्यदन्त, सुपार्श्व, शीतल, ऋतुराज, श्रीशीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्मद, श्रीलिङ्ग, कुमुद, कमलकन्द, महेन्द्र, मानसन्तुष्टि, नमिशृंग, सुमतिकीर्ति, पार्श्व वल्लभ और वीर-विक्रम नामक प्रासाद क्रमशः ऋषभनाथ आदि 24 तीर्थंकरों के हैं। नेमेन्द्र नामक प्रासाद नेमिनाथ का दूसरी बार है। अमृतोद्भव, श्रीवल्लभ, श्रीचन्द्र, कीर्तिदायक, मनोहर, सुकुल, कुलनन्दन, रत्नसंजय, मुक्ति, सुरेन्द्र, धर्मवृक्ष, कामदत्तक, हर्षज, श्रीशैल, अरिनाशन, मनवेन्द्र, पापनाशन, उपेन्द्र, राजेन्द्र, यतिभूषण, सुपुष्य, पद्मव्रत, रूपवल्लभ, अष्टापद और तुष्टि-पुष्टि प्रासाद सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों के है। शक्ति नामक प्रासाद लक्ष्मी देवी का और श्रीभव (गौरव) प्रासाद ब्रह्मा, विष्णु और शिव का है।

वास्तुशास्त्रानुसार प्रतिमा विज्ञान

प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ 'प्रतिरूप' होता है अर्थात् समान आकृति। पाणिनि ने भी अपने सूत्र 'इवेप्रतिकृतो'[2] में समरूप आकृति के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। प्रतिमा विज्ञान के लिए अंग्रेजी में 'आइकोनोग्राफी' (Iconography) शब्द प्रयुक्त होता है। 'आइकन' शब्द का तात्पर्य उस देवता अथवा ऋषि के रूप से है जो कला में चित्रित किया जाता है। ग्रीक भाषा में इसके लिए 'इकन' (Eiken) शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी अर्थ से समानता रखते हुए 'भारतीय अर्चा', 'विग्रह', 'तनु' तथा 'रूप' शब्द है। ऋग्वेद[3] में भी प्रतिमा के लिए 'अर्चा' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रतिमा का प्रयोग वस्तुतः उन्हीं मूर्तियों के लिए किया जाता है जो किसी धर्म से सम्बन्धित होती है। इन्हीं के माध्यम से भक्त एवं उपासक अपने भक्तिपूर्ण उद्गार अपने आराध्य देव को समर्पित करता है।

1. द्विसप्तत्या द्विबाणैर्वा चतुर्विंशतितोऽपि वा।
   जिनालये चतुर्दिक्षु सहितं जिनमन्दिरम्॥ (प्रा. म. अ.-2, पद्य-23, पृ. 31-32)
2. पाणिनि-अष्टाध्यायी, 5/3/96
3. ऋग्वेद 7/9/19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर हो या महल, स्तम्भ हो या मन्दिर की थर, शिखर तथा तोरण द्वार सभी में कुछ न कुछ तराशा जाता है। शिल्प में जो भावना और कल्पना है, वही मूर्तिकला है।[1] मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा में प्राप्त अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में देवों के विविध अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपों एवं आकारों का प्रसार नहीं हुआ था। भारत में प्रतिमापूजा की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल से देखी जा सकती है। द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[2] ने भारतीय प्रतिमाओं का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है– ब्राह्मण प्रतिमाएँ, बौद्ध प्रतिमाएँ, जैन प्रतिमाएँ। गोपीनाथ राव[3] ने ब्राह्मण प्रतिमाओं को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है– चल और अचल प्रतिमाएँ, पूर्ण और अपूर्ण प्रतिमाएँ, शान्त और अशान्त प्रतिमाएँ। चल प्रतिमाओं के निर्माण में ऐसे द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, जो हल्के हो, इनमें धातु स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि होता है तथा ये प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। अचल प्रतिमाओं के निर्माण में पाषाण-प्रयोग स्वाभाविक है और वे बड़ी लम्बी और विशाल होती हैं। चल और अचल प्रतिमाओं में पुनः भेद किया गया है[4]–

चल प्रतिमाएँ

⇒ कोतुक वेर—पूजार्थ

⇒ उत्सव वेर—उत्सवार्थ-पर्व विशेष पर बाहर ले जाने के लिए

⇒ बलि वेर—दैविक उपचारात्मक पूजा में उपहारार्थ

⇒ स्नपन वेर—स्नानार्थ

अचल प्रतिमाएँ

ये प्रासाद गर्भगृह में स्थापित की जाती है, ये सदैव यथा स्थान स्थापित एवं प्रतिष्ठित रहती है। इनके निम्न भेद है–

⇒ स्थानक—खड़ी हुई

⇒ आसन—बैठी हुई

⇒ शयन—विश्राम करती हुई[5]

केवल वैष्णव प्रतिमाएँ ही इन मुद्राओं में विभाजित की जा सकती है, अन्य देवों की नहीं। शयन देह मुद्रा विष्णु को छोड़कर अन्य किसी देव के लिए परिकल्पित नहीं की जा सकती।

---

1. शर्मा, गोपीनाथ-राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 151
2. शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय वास्तुकला, पृ. 194
3. टी. ए. गोपीनाथ राव-ऐलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, भाग-1, पृ. 17
4. भा. वा., पृ. 195
5. टी. ए. गोपीनाथ राव-ऐलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, पृ. 17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सामान्य रूप से मूर्ति को उसके वाहन, आयुध, मुद्रा, अलङ्करण और भुजाओं की संख्या से पहचाना जाता है।[1]

वाहन या आसन वास्तु

जिस वस्तु या वाहन पर किसी आकृति को बैठा या खड़ा दिखाया जाता है, उसे आसन वास्तु कहते है। भारतीय मूर्तियाँ चौकी, सिंहासन, चट्टाई, गज, मृग अथवा व्याघ्र, चर्म, कमल, शिक्षा, पद्मपत्र, सुमेरु, पशु (हाथी, सिंह, अश्व, वृषभ, महिष, मृग, मेढा, शूकर, गधा, शार्दूल आदि) पक्षी (मयूर, हंस, उल्लूक, गरुड़ आदि) जलचर (मकर, मीन, कच्छप आदि) इत्यादि पर बैठी या खड़ी दिखायी जाती है।[2]

प्रतिकृतिस्थ आयुध

प्रतिमाओं के गुण अथवा शक्ति प्रदर्शित करने के लिए उनके हाथों का उपयोग किया गया है तथा हाथों की संख्या भी बढाई गई है। इन हाथों में जो वस्तुएँ दिखाते हैं। वे किसी शक्ति, क्रिया या गुण की प्रतीक होती है। शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार देवताओं के 36 आयुध है जिनको प्रतिकृतियों में दिखाया जाता है। यथा- चक्र, त्रिशूल, वज्र, धनुष, कृपाण, गदा, अङ्कुश, बाण, छुरी, दण्ड, शक्ति, (नोंकदार तलवार), मूसल, परशु (फरसा), भाला (कुन्त), रिष्टिका (कटार), खट्वांग (मूठदार डण्डा), मुशुंडी (छोटा नोंकदार डण्डा), कर्तिका (कैंची), कपाल, सूची (सूजा), खेट (ढाल), पाश (फंदा), सर्प, हल, मुग्दर, शङ्ख, शृंग, (बजाने वाला), घण्टा, खोपड़ी, माला, पुस्तक, कमण्डल, कमल, पान-पत्र, योगमुद्रा।[3]

मुद्रा

मूर्तियाँ आसन, शयन और स्थान तीन प्रकार की बनायी जाती हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में योग, भोग, वीरा और अभिचारिका मुद्रा में भी प्रतिमाएँ बनायी जाती है।[4] अधिकतर खड़ी हुई मूर्तियों की मुख्य मुद्राएँ होती हैं–

⇒ समपाद—दोनो पैर बराबर मिलाकर खड़े हुए

⇒ अभङ्ग—कुछ तिरछे खड़े हुए

⇒ त्रिभङ्ग—मस्तक, कमर और पैर तीनों में तिरछापन और

---

1. ए. ऑफ हि. आ., पृ. 17
2. अग्रवाल, गिर्राज किशोर-भारतीय मूर्तिकला, पृ. 88
3. शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय वास्तुकला, पृ. 232
4. भा. वा., पृ. 229

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

⇒ अतिभङ्ग—जिसमें शरीर के सभी अवयवों में तिरछापन हो।

इनके अतिरिक्त भी कई और मुद्राएँ हैं जो विशेष मूर्तियों में प्रयुक्त होती है। जैसे वराह की मुद्रा को 'आलिड्य' मुद्रा कहते है। इसमें बाँया पैर उठा हुआ, कटि कुछ तिरछी, सिर उठा हुआ, दाहिना नीचा हाथ अभय मुद्रा में होता है।[1]

देवताओं से सम्बन्धित हस्तमुद्राएँ भी प्रमुख है–

⇒ अभय—दाहिनी खुली हथेली उठाये हुए

⇒ वरद—दाहिने हाथ की खुली हथेली नीचे किए हुए

⇒ ध्यान मुद्रा—दोनों हथेलियों को गोदी में रखे हुए,

⇒ ज्ञान मुद्रा—उड़ी हुई या आड़ी दाहिनी हथेली में तर्जनी और अङ्गूठा मिलाए हुए।

बैठने के आसन भी अनेक हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण आसन पद्मासन माना गया है। इसमें सीधे बैठकर दाएँ पैर को बायीं जङ्घा पर और बांये पैर को दाहिनी जङ्घा पर इस प्रकार दृढ़ता से जमाकर रखते हैं कि पैरों की एड़ियाँ कमर को दबाती हैं।[2] देवताओं को मनुष्यों से उच्च श्रेणी का माना गया है इसलिए उनके अनेक सिर और हाथ भी हो सकते हैं। ब्रह्मा को सदैव चतुर्मुख ही दिखाया जाता है। शिव को भी कई स्थानों पर पञ्चानन दिखाया जाता है। त्रिमूर्ति में तो हमेशा ब्रह्मा, विष्णु और शिव के मुख एक साथ ही दिखाये जाते हैं। देवताओं की हाथों की संख्या में भी भेद होता है। ब्रह्मा और विष्णु अधिकतर चतुर्भुज दिखाए जाते है। दुर्गा को अष्टभुजी रूप में प्रदर्शित किया जाता है। मुख भेद में वराहदेव को शूकर के मुख, हयग्रीव देव को घोड़े के मुख और गणेश जी का मुख हाथी के सिर के समान दिखाया जाता है।[3]

आभूषण तथा वस्त्र

देवताओं की कुछ अंश पहचान उनके वस्त्र और आभूषणों द्वारा भी की जा सकती है। हिन्दू-स्थापत्य में प्रतिमाओं को विविध आभूषणों एवं वस्त्रों से भी सुशोभित करने की परम्परा है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता[4] में लिखा है–

देशानुरूप भूषणवेशालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।

प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निहिता वृद्धिदा भवति।।

देश-कालानुसार समाज में आभूषणों एवं वस्त्रों की जो मनुष्यों एवं स्त्रियों में भूषण-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उन्हीं के अनुरूप देवों की मूर्तियों में भी उनकी परिकल्पना की गई। देववाद में भी

1. टी. ए. गोपीनाथ राव–ऐलिमेन्ट्स ऑफ हि.आ. पृ. 17
2. चतुर्वेदी, श्रीनारायण–नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 25
3. ना. शै. के न. हि. म., पृ. 27
4. बृहत्संहिता–अध्याय-58, पद्य-29, पृ. 686
5. शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ–भारतीय वास्तुकला, 235

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों के मर्म छिपे हैं— ब्रह्मा-ब्रह्मचारी के रूप में, शिव-सन्यासी के रूप में, विष्णु-राजा के रूप में, स्कन्द-सेनानी के रूप में परिकल्पित किए गए हैं।[5]

देवताओं की मूर्तियाँ

हिन्दुओं में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अधिकतर दो सम्प्रदायों की होती हैं। वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय। इनके अलावा गणेश, देवी आदि को मानने वाले सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की भी प्रतिमाएँ होती है। हिन्दुओं द्वारा देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ न केवल मन्दिर और सार्वजनिक स्थानों में वल्कि घर में भी पूजी जाती हैं। प्रत्येक हिन्दू अपने घर में स्वयं के इष्ट देवता और कुलदेवी की प्रतिमा रखता है और विशेष उत्सवों पर सपरिवार उनकी पूजा करता हैं।[1]

प्रासाद-मण्डन में देव स्थापना के विषय में कहा गया है कि गणेश, भैरव, चण्डी, कुलीश, नवग्रह, मातृदेवता और कुबेर—इन देवों को दक्षिणाभिमुख स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार वानरेश्वर हनुमान जी का मुख नैर्ऋत्य दिशाभिमुख रखना चाहिए। अन्य किसी देवता का मुख इस दिशा में नहीं रखना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, इन्द्र, और कार्तिकेय ये देव पूर्व और पश्चिम मुख वाले हैं इन्हें दक्षिण तथा उत्तर दिशाभिमुख स्थापित नहीं करना चाहिए।[2] शिवलिङ्ग के सामने कोई भी देव पूजन के रूप में स्थापित नहीं करना चाहिए क्योंकि जैसे सूर्य के तेज से तारों की प्रभा नष्ट होती है, वैसे ही दूसरे देवों की प्रभा नष्ट होती है। इसलिए वे देव भोगादि-सुख सम्पत्ति नहीं दे सकते हैं। शिव के सामने शिव, ब्रह्मा के सामने ब्रह्मा, विष्णु के सामने विष्णु, जिनदेव के सामने जिनदेव और सूर्य के सामने सूर्य, इस प्रकार आपस में स्वजातीय देव स्थापित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार चण्डिका आदि देवी के सामने मातृदेवता, यक्ष, क्षेत्रपाल और भैरव आदि देव स्थापित किए

---

1. टी. ए., गोपीनाथ राव—ऐलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, पृ. 8-9
2. पूर्वपरास्यदेवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।
   ब्रह्मविष्णुशिवार्केन्द्र-गुहाः पूर्वापराङ्मुखाः॥
   नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये बाह्ये च देवताः।
   गणेशो धनदो लक्ष्मीः पुरद्वारे सुखावहाः॥
   विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशोग्रहास्तथा।
   मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः॥
   नैर्ऋत्याभिमुखः कार्यो हनुमान् वानरेश्वरः।
   अन्ये विदिङ्मुखा देवा न कर्त्तव्याः कदाचन॥ (प्रा. म.—अ. 2, पद्य 37-40, पृ. 36-37)
3. लिङ्गाग्रे तु न कर्त्तव्या अर्चारूपेण देवताः।
   प्रभानष्टा न भोगाय यथा तारा दिवाकरे॥
   शिवस्याग्रे शिवं कुर्याद् ब्रह्माणं ब्रह्मणोऽग्रतः।
   विष्णोरग्रे भवेद् विष्णु-र्जिने जिनो रवौ रविः॥
   ब्रह्मा विष्णुरेकनाभि-र्द्वाभ्यां दोषो न विद्यते।
   शिवस्याग्रेऽन्यदेवस्य दृष्टिवेधे महद्भयम्॥
   प्रसिद्धराजमार्गस्य प्राकारस्यान्तरेऽपि वा।
   स्थापयेदन्यदेवांश्च तत्र दोषो न विद्यते॥ (प्रा. म.—अ. 2, पद्य-28-31, पृ. 33-34)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जा सकते हैं। ब्रह्मा और विष्णु के देवालय आपस में सामने हों, तो दोष नहीं होता, किन्तु शिव के सामने, दूसरे देव का दृष्टिवेध होता है तो यह दोषकारक है। इस दोष का परिहार उस स्थिति में होता है यदि शिवालय और अन्य देवों के देवालय—इन दोनों के बीच प्रसिद्ध राजमार्ग हो अथवा दीवार हो।[3]

प्रासाद का जल-निकास किस दिशा में होना चाहिए, इसके विषय में 'प्रासाद मण्डन'[1] में कहा गया है कि पूर्व और पश्चिम दिशा के द्वार वाले प्रासाद की नाली उत्तर दिशा में रखना शुभ है, उत्तर और दक्षिणाभिमुख प्रासाद की नाली पूर्व दिशा में रखनी चाहिए। जिनदेव के प्रासाद दक्षिण और उत्तर दिशा के द्वार वाले भी बनाये जाते हैं। इनकी नाली, यदि प्रासाद दक्षिणाभिमुख है तो बांयी ओर तथा उत्तराभिमुख है तो दाहिनी ओर बनानी चाहिए। इसी प्रकार मण्डप में जो देव स्थित है, उनमें मूलनायक के बांयी ओर के देवों की नाली बायीं ओर तथा दाहिनी ओर के देवों की नाली दाहिनी ओर बनाना शुभ है।

'प्रासाद मण्डन' में देवों के आयतन (देवालय) के विषय में बतलाया गया है कि सूर्य के पञ्चायतन देवों में—मध्य में सूर्य, उसके प्रदक्षिण क्रम से गणेश, विष्णु, चण्डीदेवी और महादेव को स्थापित करना चाहिए। साथ ही नवग्रह और बारह गणों की मूर्तियाँ भी स्थापित करनी चाहिए। गणेश के पञ्चायतन देवों में—मध्य में गणेश, उसके प्रदक्षिण क्रम से चण्डीदेवी, महादेव, विष्णु और सूर्य की स्थापना करनी चाहिए तथा बारह गणों की मूर्तियाँ भी स्थापित करनी चाहिए। विष्णु के पञ्चायतन देवों में—मध्य में विष्णु को स्थापित करके उसके प्रदक्षिण क्रम से गणेश, सूर्य, अम्बिका और शिव को स्थापित करना चाहिए। साथ ही गोपियों की और अवतारों की मूर्तियाँ तथा द्वारिका नगरी को स्थापित करना चाहिए। चण्डी देवी के पञ्चायतन देवों में—मध्य में चण्डी देवी की स्थापना करके, उसके प्रदक्षिण क्रम से महादेव, गणेश, सूर्य और विष्णु को स्थापित करना चाहिए। साथ ही मातृदेवी, चौंसठ योगिनी आदि देवियों और भैरव आदि देवों की मूर्तियाँ भी स्थापित करनी चाहिए। शिव के पञ्चायतन देवों में मध्य में शिव, उसके प्रदक्षिण क्रम से सूर्य, गणेश, चण्डी और विष्णु को

---

1. पूर्वापरमुखे द्वारे प्रणालं शुभमुत्तरे।
इति शास्त्रविचारोऽयमुत्तरास्या न देवताः॥
मण्डपे ये स्थिता देवा-स्तेषां वामे च दक्षिणे।
प्रणालं कारयेद् धीमान् जगत्यां च चतुर्दिशम्॥ (प्रा. म.—अ. 2, पद्य-35-36, पृ. 35-36)

2. सूर्याद् गणेशो विष्णुश्च चण्डी शम्भुः प्रदक्षिणे।
भानोगृहे ग्रहास्तस्य गणा द्वादश मूर्त्तयः॥
गणेशस्य गृहे तद्वच्चण्डी शम्भुर्हरी रविः।
मूर्त्तयो द्वादशान्येऽपि गणाः स्थाप्या हिताश्च ये॥
विष्णोः प्रदक्षिणेनैव गणेशार्काम्बिकाशिवाः।
गोप्यस्रस्यावतारस्य मूर्त्तयो द्वारिकां तथा॥
चण्डयाः शम्भुर्गणेशोऽर्को विष्णुः स्थाप्यः प्रदक्षिणे।
मातरो मूर्त्तयो देव्या योगिन्यो भैरवादयः॥
शम्भोः सूर्यो गणेशश्च चण्डी विष्णुः प्रदक्षिणे।
स्थाप्याः सर्वे शिवस्थाने दृष्टिवेधविवर्जिताः॥ (प्रा. म.—अ. 2, पद्य-41-45, पृ. 37-38)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थापित करना चाहिए। इनकी स्थापना में दृष्टिवेध अवश्य छोड़ना चाहिए।[2]

गणेश

गणेश ओंकार के प्रतीक हैं। आयुध भेद से गणेश के कई नाम और रूप प्रचलित हैं। 'रूपमण्डन' में गणेश के दो और रूप हेरम्ब और वक्रतुण्ड का मूर्तिविधान बताया गया है। गणेश का वाहन मूषक है जो धर्म का प्रतीक है। गणेश सामान्यतया चतुर्भुज है। गणेश की प्रतिमा का सामान्य विधान 'रूपमण्डन' के अनुसार यह है कि वे मूषिकारुढ है और उनके चारों हाथों में दन्त, परशु, पद्म और मोदक है। वे गजानन, एकदन्त और द्विनेत्र हैं। रूपमण्डन के अनुसार हेरम्ब और वक्रतुण्ड की प्रतिमाएँ त्रिनेत्र बननी चाहिए। वक्रतुण्ड चतुर्भुज हैं उनके दो हाथों में पाश और अङ्कुश है तथा शेष दो हाथों में एक वरद और दूसरा अभयमुद्रा में है। वक्रतुण्ड की प्रतिमा लम्बोदर होती है, जिसे बृहत् कर्ण और चामर सहित भी बनाने का विधान 'रूपमण्डन' में बताया गया है।[1] हेरम्ब की प्रतिमा, गणेश के अन्य प्रतिमा भेदों में विशिष्ट है। हेरम्ब पञ्चमुख और अष्टभुज हैं। इनके दाहिने हाथों में एक हाथ वरद तथा दूसरा अभय मुद्रा में होता है। शेष दाहिने हाथों के आयुध अङ्कुश और दन्त है। बांये हाथों के विधान में 'रूपमण्डन' में कहा गया है— **वामे कपालं वाणाक्षं पाश कौमोदकीं तथा।**[2]

कार्तिकेय

गणेश शिवगणों के नेता हैं और कार्तिकेय देवसेना के सेनानी। उत्तर भारत में गणेश की पूजा का जो महत्त्व और प्रचार है वही कार्तिकेय का दक्षिण भारत में। कुमार या कर्तिकेय का सामान्य लक्षण शिखी और शक्ति है। बृहत्संहिता के अनुसार— **स्कन्दः कुमाररूपः शक्तिधरो वर्हिकेतुश्च।**[3] 'रूपमण्डन' के अनुसार खेट नगर में कार्तिकेय की प्रतिमा द्वादशभुज, खर्वट में चतुर्भुज, वन अथवा ग्राम में द्विभुज बनानी चाहिए। द्वादशभुज कार्तिकेय के दाहिने हाथों में शक्ति, पाश, खड्ग, शर, त्रिशूल और एक हाथ या तो वरद या अभय मुद्रा में होता है। बांये हाथों के आयुध धनुष, पताका, मुष्टिक, वर्जनी, खेटक और ताम्रचूड है। दाहिनी भुजा पर केयूर का आभरण होना चाहिए। मयूर कार्तिकेय का वाहन है। चतुर्भुज कार्तिकेय के बाएँ हाथों के आयुध 'शक्ति' 'पाश' तथा दाएँ एक हाथ में असि और दूसरा वरद या अभय मुद्रा में होता है। चतुर्भुज कार्तिकेय उत्तरीय भी धारण करते है। द्विभुज कार्तिकेय के बाएँ हाथ में 'शक्ति' और दाएँ हाथ में 'कुक्कुट' होना चाहिए। इस प्रकार कार्तिकेय की शुभ्र मूर्ति बनानी चाहिए। यह सर्वकामप्रद है।[1]

---

1. श्रीवास्तव, बलराम—रूपमण्डन, अध्याय 5, पद्य 15, 18, पृ. 187-188
2. रू. म., अ. 5, पद्य-16, पृ. 187
3. बृहत्संहिता—57/41, पृ. 690

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्षेत्रपाल और बटुक भैरव

क्षेत्रपाल और बटुक भैरव शिव के दो रूप हैं जो शाक्तोपासना में बहुत महत्त्व रखते हैं। दोनों ही रूपों में शिव का बालत्व प्रदर्शित किया जाता है। क्षेत्रपाल को नग्न और घण्टाभूषित बनाना चाहिए। इनके दाहिने हाथों के आयुध 'कर्तिका' और 'डमरु' तथा बाएँ हाथों के आयुध 'शूल' और 'कपाल' बनाने चाहिए। इनकी शिखा—सर्प और मुण्ड समूह से गुथित तथा मुण्डमाला का उपवीत होना चाहिए।[2] बटुकभैरव सामान्यतया द्विभुज और चतुर्भुज माने गए हैं किन्तु 'रूपमण्डन' में अष्टभुज बटुकभैरव की प्रतिमा का विधान बताया गया है। दाहिने चार हाथों में खट्वाङ्ग, असि, पाश और शूल है तथा बाएँ हाथों में तीन में तो डमरु, कपाल और भुजङ्ग है तथा चौथा वरद मुद्रा में होता है। वाहन के रूप में इनके वर्ण का एक श्वान भी होना चाहिए।[3]

शक्ति या देवी

वैष्णव और शैव सम्प्रदाय के समान शाक्त सम्प्रदाय भी है, जिसमें परमेश्वर की शक्ति की पूजा की प्रधानता है। ये त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव के तेज की साकार रूप हैं। प्रधान शक्ति दुर्गा है किन्तु त्रिदेव के तेजों के अनुसार तीन महाशक्तियाँ है— महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। ये क्रमशः सात्विक, राजस और तामसिक शक्तियों का चरम रूप है। महासरस्वती के चारों हाथ क्रमशः अक्षमाला, पुस्तक, अभय-मुद्रा और पद्म से युक्त होने चाहिए। महालक्ष्मी के दूसरे और चौथे हाथों में पद्म तथा पहले और तीसरे हाथों में क्रमशः अक्षमाला और पुस्तक होनी चाहिए। महाकाली के पहले तीन हाथ क्रमशः अक्षमाला, पद्म और पुस्तक से युक्त और अन्तिम हाथ अभय मुद्रा में प्रदर्शित होना चाहिए।[4]

दुर्गा के नौ रूप हैं जिन्हें मिलाकर नवदुर्गा कहते हैं। इनके रूप, आयुध और वाहन अलग-अलग है। सामान्यतः इनका वाहन सिंह या व्याघ्र है। किसी रूप में दो भुजा किसी में चार और किसी-किसी में आठ और दस भुजाएँ भी है। नवदुर्गाएँ हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा,

---

1. श्रीवास्तव, पंकजलता—हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 309
2. क्षेत्रपालो विधातव्यो दिग्वासा घण्टभूषितः।
   कर्तिकां डमरुं बिभ्रद्दक्षिणे तु करद्वये॥
   वामे शूलं कपालञ्च मुण्डमालोपवीतकम्।
   करोतिकटितोदार सर्पग्रन्थितशेखरः ॥— रू. म.—अ. 5, पद्य-74-75, पृ. 201
3. खट्वाङ्गमसिपाशञ्च शूलञ्च दधतः करैः।
   डमरुञ्च कपालञ्च वरदं भुजगं तथा॥
   आत्मवर्णसमोपेतसारमेयसमन्वितम्।
   ध्यात्वा जपेत् सुसंहृष्टः सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥ रू. म.—अ. 5, पद्य-76-77, पृ. 201
4. चतुर्वेदी, श्रीनारायण—नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 36

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदायिनी। उत्तर भारत में सभी मन्दिरों में जङ्घा स्थान में इनमें से कुछ रूपों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती है या अलग कुलिकाएँ बनाकर और उनमें स्थापित कर उनकी अलग पूजा का प्रबन्ध किया जाता है।[1]

पंचलीला

पञ्चलीला मूर्तियाँ है—लीलया, लीला, लीलाङ्गी, ललिता और लीलावती। लीला देवी का वर्णन नारायण अथवा वेणुवाद्य-धारी एवँ मयूरपिच्छाभरण से भूषित हरि की शक्ति के समान हुआ है तथा उन्हें नारायण से अभिन्न बताया गया है। लीलामूर्तियों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से कहा गया है कि ये चतुर्भुजी, वर्ण तप्तकाञ्चन के समान, आभा बालसूर्य के सदृश तथा मुख, रूप एवं नेत्र सुन्दर होने चाहिए। इन्हें हंस-वाहन से युक्त भी कहा गया है।[2]

सप्तमातृकाएँ

ब्राह्मण धर्म में सात, आठ अथवा और अधिक मातृकाओं के सामूहिक पूजन का विधान है। सामान्यतया सप्तमातृकाओं में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा की गणना होती है। इन मातृकाओं के साथ वीरेश्वर (भैरव) और गणेश के चित्रण का भी विधान है। सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति का प्रसङ्ग रक्तबीज और शुम्भ-निशुम्भ वध से सम्बद्ध है।[3]

ब्रह्मा

त्रिदेव में होने के कारण अन्य देवों के साथ या स्वतन्त्र रूप में इनकी मूर्तियाँ प्रत्येक मन्दिर में कहीं न कहीं स्थापित की जाती है। इनकी स्थानक और आसन, दोनों प्रकार की मूर्तियाँ बनती हैं। ये 'पितामह' कहलाते हैं, इसलिए वृद्ध रूप में दाढ़ी समेत दिखलाए जाते है। उनके चारों दिशाओं में चार सिर होते है, हाथ भी चार होते हैं। हाथों में वेद व कमण्डल लिए होते हैं। यद्यपि ये स्वयंभू कहलाते हैं तथापि पुराणों में शेषशायी विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल के ऊपर बैठे हुए दिखाये जाते हैं। ब्रह्मा की चार प्रकार की मूर्तियाँ बतायी गयी हैं—कमलासन, विरञ्चि, पितामह और ब्रह्मा। इनमें कमलासन का कलि में, विरञ्चि का द्वापर में, पितामह का त्रेता में और ब्रह्मा का महत्त्व कृतयुग में है। ब्रह्मा के बाएँ सावित्री और दक्षिण में सरस्वती की प्रतिमा का विधान है।[4]

---

1. ना. शै. के न. हि. म., पृ. 36
2. श्रीवास्तव पङ्कजलता—हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 188-189
3. श्रीवास्तव पङ्कजलता—हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 252
4. रू. म.—भूमिका, पृ. 34-35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विष्णु

विष्णु और शिव की पूजा हिन्दुओं में सबसे अधिक प्रचलित है। इनमें भी विष्णु और उनके अनेक रूपों (लक्ष्मी-नारायण, विष्णु, शेषशायी, वेंकटेश्वर, वरदराज, श्री रंगनाथ, विठोबा) और अवतारों (राम, कृष्ण, वराह, नृसिंह, आदि के रूपों में) की पूजा सारे देश में सर्वाधिक प्रचलित है। जब प्राचीन काल में भागवत्धर्म जोर पर था, तब विष्णु के रूप से उनकी चतुर्भुज रूप में पूजा होती थी। बाद में एक समय आया जब उनके वराह रूप की पूजा बड़ी लोकप्रिय और प्रचलित हो गयी। एक समय उनका त्रिविक्रम और नृसिंह रूप भी बहुत प्रचलित था। बाद में उनके अवतार में राम और कृष्ण के रूप में उनकी पूजा लोकप्रिय हुई। विष्णु के विविध रूपों के प्रतिमा लक्षणों को प्रतिमा-विज्ञान विषयक अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है।[1]

⇒ अष्टबाहु हरि तथा जलशयन मूर्तियाँ;

⇒ चतुर्विंशति मूर्तियाँ;

⇒ अवतार मूर्तियाँ;

⇒ चतुर्मुखी मूर्तियाँ—वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप;

⇒ अन्य मूर्तियाँ—गरुड़ध्वज, गोवर्धन, जयन्त, धन्वन्तरि, सुषेण, जगन्नाथ, शङ्खशार्ङ्गादिधारी विष्णु और दिक्पाल-रूप विष्णु;

⇒ गरुड़ एवं प्रतिहार मूर्तियाँ।

सामान्यतया विष्णु मूर्तियाँ विष्णु के पर, व्यूह तथा विभव रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। विष्णु की मूर्ति चतुर्भुजी होती है। ऊपर के दोनों हाथों में शङ्ख और चक्र तथा नीचे के हाथों में गदा और कमल होते हैं। बाद में नीचे के हाथ वरद या अभय और कटि मुद्राओं में प्रदर्शित किए जाने लगे। विष्णु के चार आयुधों शङ्ख, चक्र, गदा, और पद्म की ही मुख्य रूप से चर्चा है। राम और कृष्ण की मूर्तियाँ द्विभुजी होती है। राम का आयुध धनुष-बाण और कृष्ण का वंशी और लकुटी है। विष्णु जगत के पालनकर्ता हैं। इसलिए जब-जब साधु और सज्जनों पर भयंकर विपत्ति आती है तब-तब उनकी रक्षा और अधर्म का नाश करने के लिए वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इनके सबसे अधिक अंश वाले दो अवतार हुए हैं—राम और कृष्ण। रामावतार 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' अवतार था और कुष्णावतार 'लीला-पुरुषोत्तम' अवतार था।[2]

---

1. श्रीवास्तव पङ्कजलता—हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 30-31
2. चतुर्वेदी, श्री नारायण—नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विष्णु के आठ अवतार (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण) ही प्रमुख है। बाद में भगवान् बुद्ध और कल्कि को इसमें सम्मिलित कर लिया गया। हिन्दू जनता इन्हीं दशावतारों को प्रमुखता देती है। विष्णु का वाहन गरुड़ है। वह मानवाकार है, किन्तु उसके दो पक्ष (पंख) होते हैं। उसकी मूर्ति भगवान् विष्णु की मूर्ति के सामने उठी हुई पीठ पर या स्तम्भ के ऊपर बनायी जाती है। बायाँ पैर थोड़ा टेढ़ा है और दूसरा पैर जानु से पीछे मुड़कर पृथिवी पर स्थित है। इसी को गरुड़ आसन कहते है।[1] विष्णु की पत्नी लक्ष्मी है। किन्तु किसी-किसी सम्प्रदाय में पृथिवी को भी उनकी दूसरी पत्नी माना गया है। लक्ष्मी भी चतुर्भुजी हैं और वे कमल पर विराजती हैं। वे विष्णु की शक्ति हैं और ऐश्वर्य की द्योतक हैं। विठोबा के रूप में लक्ष्मी का ही अवतार रुक्मिणी है। नारायण की मूर्ति के साथ सामान्यतः लक्ष्मी की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है और तभी उसे पूर्ण माना जाता है। इस प्रकार की युग्म मूर्ति को 'लक्ष्मी नारायण' कहते है।[2] सामान्यतः विष्णु का पूजन इसी रूप में होता है।

राम की मूर्ति अकेले स्थापित नहीं की जाती। वह या तो सीता के साथ या पञ्चायतन के रूप में होती है। जिस प्रकार विष्णु के मन्दिर में उनके वाहन और अनुचर के रूप में गरुड़ की मूर्ति स्थापित की जाती है, उसी प्रकार राम मन्दिर में हनुमान की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है, किन्तु हनुमान के स्वतन्त्र मन्दिर भी बनते हैं, जबकि गरुड़ के अलग मन्दिर नहीं बनाये जाते।[3] विष्णु का इस प्रकार की मूर्तियों द्वारा पूजन व्यक्त पूजन है, किन्तु उनका अव्यक्त पूजन 'शालिग्राम' शिलाओं द्वारा भी किया जाता है। इनमें मुख के भीतर चक्र आदि के चिह्न होते हैं। इनके प्रायः मन्दिर नहीं बनते। इनका पूजन गृहस्थ लोग सामान्यतः घरों में ही करते हैं। इनका एकमात्र प्रसिद्ध मन्दिर जम्मू में है।[4]

शिव

शिव का पूजन बहुत प्राचीन काल से होता आया है। इनका भी पूजन व्यक्त और अव्यक्त रूप में किया जाता है किन्तु शिव के अव्यक्त रूप का ही पूजन सामान्यतः मन्दिरों में होता है। शिव के व्यक्त पूजन में शिव की मूर्ति का और अव्यक्त रूप में शिवलिङ्ग का पूजन होता है। विष्णु के

---

1. वामाग्रे कुञ्चितः पश्चादन्यपादस्तु जानुना।
   पृथिवीं संस्थितो यत्र गारुडं स्यात्तदासनम्॥ रू. म.—अ. 3, पद्य-51, पृ. 146
2. लक्ष्मीनारायणो देवस्त्रिभिश्चक्रैर्व्यवस्थितः।
   पूजनीयः प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिफलप्रदः॥ रू. म.—अ. 3, पद्य-43, पृ. 144
3. चतुर्वेदी, श्री नारायण—ना. शै. के न. हि. म., पृ. 33
4. अहं ब्रह्मादयो देवाः सर्वभूतानि केशवः।
   सदा सन्निहितस्तत्र प्रतिष्ठाकर्म नास्त्यतः॥
   शालग्रामशिलाग्रे तु यो जुहोति हुताशनम्।
   एकाहुतिर्हुता सम्यक् कल्पकोटि गुणोत्तरा॥ रू. म.—अ. 3, पद्य-44-45, पृ. 144

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

व्यक्त पूजन के असंख्य मन्दिर हैं, किन्तु अव्यक्त पूजन के नहीं। इसके विपरीत, शिव के अव्यक्त रूप के जितने मन्दिर हैं, उनकी अपेक्षा उनके व्यक्त रूप के मन्दिर कम हैं। शिवलिङ्ग-पूजन का बड़ा माहात्म्य है। इनमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग माने जाते हैं—सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, ओंकारेश्वर, केदारनाथ, भीमशङ्कर, विश्वनाथ त्र्यंबकेश्वर, वैद्यनाथ, नागेश्वर, रामेश्वर तथा घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग।[1] प्रलय के समय शिव के ताण्डव नृत्य की मूर्ति का पूजन व्यक्त पूजन है। इसका प्रचलन दक्षिण भारत में है। व्यक्त शिव-पूजन के मन्दिरों में शिव और पार्वती की मूर्तियाँ होती हैं। शिव की अनेक नामों से पूजा होती है—सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान, मृत्युञ्जय, विजय, किरणाक्ष, अघोरास्र, श्री कण्ठ और महादेव। प्रत्येक रूप के आयुधों और मुद्रा में भेद है किन्तु सिर में जटाजूट, चन्द्रमा, तीन नेत्र और त्रिशूल प्रायः सब में होते हैं। किसी-किसी रूप में हाथ में खप्पर, कपाल, डमरु, सर्पों के आभूषण तथा पीठ पर व्याघ्रांबर या गजचर्म और गले में मुण्डमाल भी होती है।[2]

सामान्यतः जटाजूटधारी, त्रिनेत्र, नीलकण्ठ, जटाजूट में बालचन्द्र, सिर पर गङ्गा, हाथ में त्रिशूल, सर्पों का हार पहने तथा व्याघ्राम्बर ओढे हुए शिवमूर्ति का सर्वमान्य रूप हैं। उनका वाहन नन्दी (वृषभ) है और वे उस पर आसीन या उसके साथ खड़े हुए दिखाए जाते हैं। शिव परमयोगी हैं, इसलिए उनकी ध्यानमुद्रा की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिलती हैं। जहाँ मूर्ति अव्यक्त (शिवलिङ्ग) रूप की है, वहाँ उनका वाहन 'नन्दी' मन्दिर के बाहर उनके सामने बैठा हुआ प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यक्त मन्दिर में या उनके पास मां दुर्गा (जिनके अन्नपूर्णा, अम्बिका, गौरी आदि अनेक नाम हैं) की मूर्ति भी स्थापित की जाती है। सामान्यतः मन्दिर में उनके दोनों पुत्रों (कार्तिकेय और गणेश) की भी मूर्तियाँ होती हैं।[3]

लक्ष्मीनारायण की तरह उमा-महेश या शिव-पार्वती की मूर्तियों की भी पूजा की जाती है, किन्तु लक्ष्मी और नारायण की तरह उनकी मूर्तियाँ अलग-अलग न होकर पार्वती जी शिवजी के बायीं ओर बैठी होती हैं। शिवजी का बायाँ हाथ उनके कन्धे पर होता है, दायें हाथ में त्रिशूल और दूसरे बाएँ हाथ में सर्प होता है। पार्वती जी का दाहिना हाथ शिवजी के कन्धे पर है। इस युग्म मूर्ति के नीचे नन्दी, कार्तिकेय ओर गणेश होते हैं।[4] शिवलिङ्ग को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। लिङ्ग दो प्रकार के होते है—एक चल और दूसरा अचल। चल लिङ्ग के द्रव्यभेद से कई भेद होते हैं। ये भेद

---

1. सिंह, राजबहादुर—मन्दिर संस्कृति, पृ. 198-200
2. श्रीवास्तव, पङ्कजलता—हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 151-152
3. चतुर्वेदी, श्रीनारायण—नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 35
4. उमामहेश्वरं वक्ष्ये उमया सह शङ्करः।
   मातुलिङ्गं त्रिशूलञ्च धरते दक्षिणे करे॥
   आलिङ्गितो वामहस्ते नागेन्द्रं द्वितीये करे।
   हरस्कन्ध उमाहस्ते दर्पणो द्वितीये करे॥ रू. म. अ. 4, पद्य-27-28, पृ. 159-160

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मृण्मय, लोहज, रत्नज, दारुज, शैलज और क्षणिक की संज्ञाओं से अभिहित होते हैं। 'रूपमण्डन' में रत्नज, शैलेय, मृण्मय और दारुज चललिङ्गों का विवेचन है, अचललिङ्गों की कोटि में स्वयम्भु, दैवत, गाणपत्य, असुर, पुराण, राक्षस, मानुष और बाण लिङ्ग आते हैं। शैवों में बाणलिङ्ग का वही महत्त्व है जो वैष्णवों में शालिग्राम का। लिङ्ग के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भाग प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा भाग चोकोर, विष्णु भाग अष्टकोणात्मक और रुद्रभाग गोल होता है। ब्रह्मा भाग नीचे का, विष्णु भाग बीच का तथा रुद्र भाग ऊपर का होता है। रुद्र भाग को पूजा भाग भी कहते है और पीठिका के ऊपर यही भाग उठा होता है। 'लिङ्गपीठ' में पीठिका निर्माण के विषय में 'रूपमण्डन'[1] में कहा गया है कि जिस द्रव्य का लिङ्ग हो उसी द्रव्य की पीठिका भी होनी चाहिए। शिवजी के मन्दिरों में दुर्गा, कार्तिकेय और गणेश के अतिरिक्त वीरभद्र और भैरव की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। उनके द्वार पर चण्ड और प्रचण्ड की मूर्तियाँ द्वारपाल के रूप में होती हैं।

दिक्पाल

मन्दिर वास्तुशास्त्र के अनुसार मन्दिर का निर्माण करते समय दिक्पालों का विशेष ध्यान रखा जाता है। वास्तुशास्त्रानुसार दस दिशाएँ है—पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम, पूर्व और दक्षिण का कोना आग्नेय, दक्षिण और पश्चिम का नैर्ऋत्य, पश्चिम और उत्तर का वायव्य और उत्तर-पूर्व का कोना ईशान दिशा कहलाती है। इन आठ दिशाओं के अतिरिक्त अन्तरिक्ष (आकाश) और पृथिवी के नीचे का भाग (पाताल) भी दिशाएँ मानी गयी हैं। प्रत्येक दिशा का एक देवता है, जो उसका दिक्पाल कहलाता है।

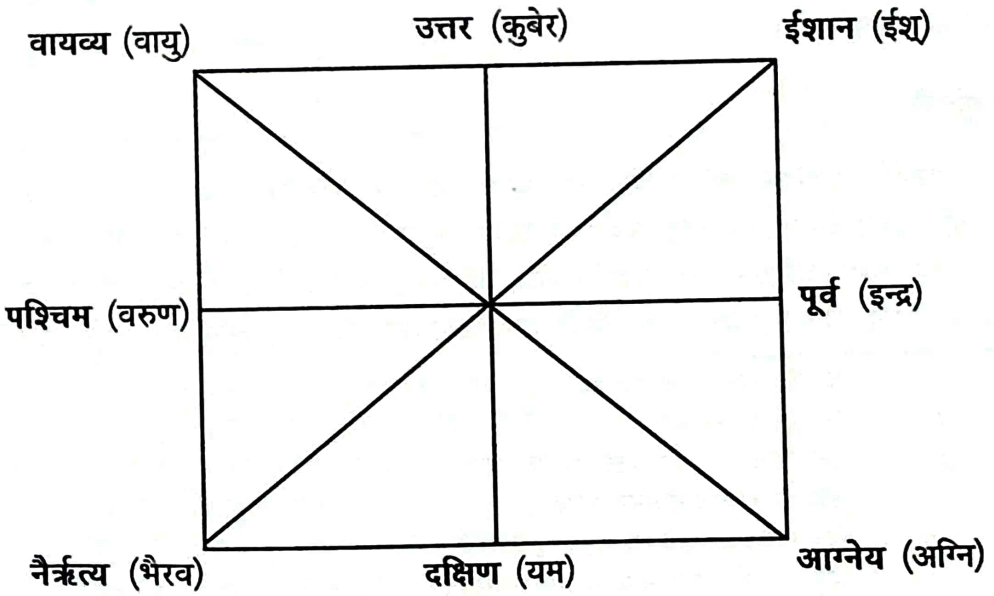

1. रू. म.—भूमिका, पृ. 66-76

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आकाश के देवता ब्रह्मा और पाताल के देवता अनन्त (शेषनाग) है। भैरव को क्षेत्रपाल भी कहते हैं। इनकी मूर्तियाँ मण्डोवर की जङ्घा में अन्य देवी-देवताओं के साथ लगायी जाती हैं।[1]

नवग्रह

नवग्रह सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु है। मन्दिरों में इनकी मूर्तियाँ खम्भों, कक्षासनों, वितानों आदि में लगायी जाती हैं। प्राचीन मन्दिरों में इन्हें मन्दिर के द्वार के ऊपर या अन्य प्रमुख स्थान पर अलग-अलग या एक पंक्ति में लगे देखा जाता है। सूर्य नवग्रहों में प्रथम और प्रधान है। सूर्य का महत्त्व बौद्ध और जैन मूर्तिशास्त्र में भी है। भाजा की बौद्ध गुफा में सूर्य का अङ्कन है और इसी प्रकार जैन गुफा (अनन्त गुफा, उड़ीसा) में भी सूर्य की प्रतिमा बनी है। प्रथम शती ई.पू. से सूर्य प्रतिमा निर्माण की ओर लोकधर्म की विशेष प्रवृत्ति हुई। गुप्तों के समय में सूर्य-पूजा और मूर्ति-निर्माण को भी प्रोत्साहन मिला। मध्यकाल में, विशेषकर बङ्गाल में सूर्य का विष्णु की ही तरह महत्त्व रहा और मूर्तियाँ बनीं।[2] मूर्तिविधान में सूर्य के कई प्रकार प्रचलित हैं। 'बृहत्संहिता'[3] के अनुसार सूर्य स्थानक हैं और उदीच्य वेश में हैं—

नासाललाट जङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत्।।

'रूपमण्डन'[4] में सूर्य की प्रतिमा रथ सहित बनाने का विधान है और सूर्य की प्रतिमा चतुर्भुजी होनी चाहिए, जिसमें श्वेत पङ्कज भी हो। उन्हें लाल वस्त्र धारण किए वर्तुल तेज बिम्ब के अन्दर दिखाने का विधान है।

अन्य मूर्तियाँ

इनके अतिरिक्त मन्दिर की जङ्घा पर अर्थात् मण्डोवर, महामण्डप, अर्धमण्डप और प्रवेश मण्डप की बाहरी दीवारों पर नाना प्रकार के अलङ्करण, देवी-देवताओं, अवतारों पौराणिक कथाओं का अङ्कन किया जाना चाहिए। इनमें यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सराओं और देवाङ्गनाओं की मूर्तियाँ भी अङ्कित की जानी चाहिए।[5] यक्ष मानव जाति के हितैषी और कल्याण करने वाले माने जाते हैं। प्राचीन

---

1. रू. म. भूमिका, पृ. 44-45
2. रू. म., पृ. 39-40
3. बृहत्संहिता अ. 57, श्लो. 46, पृ. 692
4. सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्।
   द्विभुजञ्चैकवक्त्रञ्च श्वेतपङ्कज धृत्करम्॥
   वर्तुलं तेजसो बिम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम्।
   आदित्यस्य त्विदं रूपं कुर्यात् पापप्रणाशनम्॥ रू. म. अ. 2, पद्य-18-19, पृ. 125
5. चतुर्वेदी, श्रीनारायण नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 39-40

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

काल में यक्षों की भी पूजा होती थी और उनके 'चैत्य' नगरों के बाहर बनाये जाते थे। बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रन्थों में भी यक्षों की चर्चा है। गन्धर्व आकाशधारी हैं। मन्दिरों में गन्धर्वों को अप्सराओं के साथ आकाश में भ्रमण करते दिखाया जाता है। गन्धर्वों का ऊपरी भाग मानवाकार और नीचे का भाग पक्षी के समान होता है और कन्धे से पंख निकले रहते हैं जबकि विद्याधर पूर्णतया मनुष्याकृति होते हैं। विद्याधर कभी-कभी कीर्तिमुख के दोनों ओर उड़ते बनाये जाते हैं।

जैन प्रतिमा विज्ञान

'सूत्रधार मण्डन' के काल में गुजरात और राजस्थान में जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था और जैनमन्दिरों व मूर्तियों के निर्माण का प्रचार था। रूपमण्डन[1] के अनुसार जैन तीर्थङ्कर की प्रतिमा के आवश्यक तत्त्व इस प्रकार हैं—

1. तीन छत्र,
2. तोरणयुक्त तीन रथिकाएँ,
3. अशोकद्रुम और पत्र
4. देव दुन्दुभि,
5. असुर गजसिंह आदि से विभूषित सिंहासन,
6. अष्टपरिकर,
7. गो, सिंह आदि से अलंकृत वाहिका या यक्ष,
8. तोरण और रथिकाओं पर ब्रह्मा, विष्णु, चण्डिका, जिन, गौरी, गणेश आदि की प्रतिमाएँ।

तीर्थङ्करों की प्रतिमोद्भावना में बृहत्संहिता में जैन प्रतिमा के लाञ्छनों[2] अर्थात् जैन प्रतिमाओं की विशेषताओं का सुन्दर आभास मिलता है।

---

1. छत्रत्रयं जिनस्यैव रथिकाभिस्त्रिभिर्यता॥
अशोकद्रुमपत्रैश्च देवदुन्दुभिवादकैः।
सिंहासनमसुराद्योगजसिंहा विभूषिताः॥
मध्ये च कर्मचक्रं च तत्पार्श्वयोश्च यक्षिणी।
द्वितालविस्तराः कार्या बहिः परिकरस्य तु॥
दैर्ध्ये तु प्रतिमा तुल्या तयोरुर्ध्वे तु तोरणम्।
वाहिका बाह्यपक्षे तु गोसिंहरलंकृताः॥
कर्त्तव्या द्वारशाखा च तत्तन्मूर्तिगसंयुता।
तोरणं पञ्चधा प्रोक्तं रथिकार्यं च देवताः॥
ललितं चेतिकाकारं त्रिरथं बलितोदरम्।
श्री पुञ्जं पञ्चरथिकं सप्तावा नन्दवर्धनम्॥
रथिकायां भवेद्ब्रह्मा विष्णुरीशश्च चण्डिका।
जिनो गौरी गणेशश्च स्वे स्वे स्थाने सुखावहाः॥ रू. म.—अ. 6, पद्य-33-39, पृ. 212-213
2. लाञ्छन—जिनों से सम्बन्धित विशिष्ट लक्षण जिनके आधार पर जिनों की पहचान सम्भव होती है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः।।[1]

अर्थात् तीर्थंकर विशेष की प्रतिमा में लम्बे लटकते हुए हाथ, श्रीवत्स-लाञ्छन, प्रशान्तमूर्ति, नग्न-शरीर, तरुणावस्था—ये पाँच सामान्य विशेषताएँ है। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं वाम पार्श्व में क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे, अशोक (आम्र वृक्ष जिसके नीचे बैठकर जिन विशेष ने ज्ञान प्राप्त किया) वृक्ष के साथ-साथ अष्ट प्रतिहार्यों (दिव्यतरु, आसन, सिंहासन, आतपत्र, चामर, भामण्डल, दिव्य-दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एवं दिव्यध्वनि) में से किसी एक का प्रदर्शन भी आवश्यक है। जैनों के देव एवं देवियों की तीन श्रेणियाँ है—प्रासाद देवियाँ, कुल देवियाँ (तान्त्रिक देवियाँ) तथा सम्प्रदाय देवियाँ किन्तु जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदायों—दिगम्बर और श्वेताम्बर के देवों एवं देवियों की एक परम्परा नहीं है। तांत्रिक देवियाँ श्वेताम्बरों की विशेषता है।

तीर्थंकर

जैन धर्म में सभी तीर्थंकरों की समान महिमा है। तीर्थंकर रागद्वेष से रहित है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में साम्य होने पर भी उन्हें उनके लाञ्छन, शासन देवता, देवी (यक्ष-यक्षिणी), केवल वृक्ष, चामरधारी व चामरधारिणी के आधार पर अलग-अलग समझा जा सकता है। सभी तीर्थंकरों की मुद्रा समान नहीं है। ऋषभनाथ, नेमिनाथ और महावीर इन तीनों की आसन मुद्रा कमलासन है जो इनके इसी आसन मुद्रा में कैवल्य-प्राप्ति की सूचक है। शेष तीर्थंकरों की प्रतिमा का कायोत्सर्ग-मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था।[2]

प्रतिमा स्थापत्य में 24 तीर्थंकरों (आदिनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वामपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, आरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर) के अतिरिक्त 24 यक्षों व यक्षिणियों के रूप 16 श्रुतदेवियों (विद्या देवियों), 10 दिक्पालों, 9 ग्रहों, क्षेत्रपाल, सरस्वती, गणेश, श्री (लक्ष्मी) तथा शान्ति देवी के भी रूप प्राप्त है। शासन देवताओं के रूप में सर्वदा जिनों के समीप रहने के कारण ही जैन देवकुल में यक्ष और यक्षिणियों को जिनों के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली है।[3]

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन्दिर शब्द की उत्पत्ति 'मन्द' शब्द से मानी गई है जिसका अर्थ है—प्रसन्न होना अथवा चमकना। मन्दिर के लिए महाकाव्यों, सूत्र ग्रन्थों, अर्थशास्त्र,

---

1. रू. म.—भूमिका, पृ. 44-45
2. शुक्ल, डी. एन. भारतीय वास्तुशास्त्र (प्रतिमा-विज्ञान), पृ. 313-315
3. भा. वा., पृ. 316-317

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अभिलेखों और शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों में देवालय, देवायतन, देवकुल, देवगृह, प्रासाद, हर्म्य, विमान आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, इनसे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त शब्दों में से किसी न किसी शब्द का प्रयोग मुख्य या गौण अर्थ में मन्दिर के स्थान पर प्रयुक्त होता था। मन्दिर न केवल एक पूजा का धार्मिक स्थल था अपितु अनेक निजी एवं सार्वजनिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्यों का सम्पादनकर्त्ता भी रहा है। इन्हीं धार्मिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के कारण मन्दिर में मण्डप का निर्माण किया जाने लगा। मण्डप के नीचे यज्ञ, सभा, विवाह-संस्कार, धर्मग्रन्थ-वाचन, सत्सङ्ग, भजन आदि होते थे। उदाहरणार्थ उड़ीसा के मन्दिरों में नट मण्डप तो इन्हीं कार्यों के लिए ही सुरक्षित रहते थे।

मन्दिरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध पर्सी ब्राउन, हवेल, स्टेला क्रेमरिश के मतों से तथा बौद्ध स्थापत्य से मन्दिर उत्पत्ति द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जन-सामान्य ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से करते थे और जब इन प्रतीकों ने मूर्त्त रूप धारण कर लिया तो उस मूर्त्त रूप को सम्मान देने हेतु पूजा के स्थान, उसी तरह बना दिये गए जिस तरह बौद्धों ने स्तूप, चैत्य व विहार का निर्माण किया। बेस नगर के हिलियोडोरस स्तम्भ लेख, अशोक के रुम्मिनदेई स्तम्भ लेख और चितौड़ (राजस्थान) के निकट घोसुण्डी अभिलेखों से मन्दिर निर्माण की पुष्टि हो जाती है।

मन्दिर निर्माण की क्रमिक शैलियों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व अनार्यों की ईंट और प्रस्तर युक्त वास्तुकला प्रचलित थी। कालान्तर में जब चौथी शताब्दी तक आर्य और अनार्य वास्तुकला परस्पर सम्पर्क में आई तो उत्तरी भारत में आर्य वास्तुकला विश्वकर्मा परम्परा और अनार्य वास्तुकला मय परम्परा के रूप में प्रचलित हुई। चूंकि आर्य वास्तुकला (ईंट और काष्ठ युक्त) ने नागराजाओं की प्रस्तर कला का अवलम्बन किया इसीलिए यह नागर शैली कहलाई और अनार्य वास्तुकला का प्रसार द्रविड़ देश में हुआ, अतः यह द्रविड़ शैली कहलाई। इन दोनों के मिश्रण से एक तीसरी शैली बेसर शैली का विकास हुआ। इस प्रकार मन्दिर वास्तुकला गुप्तकाल में पूर्णता को प्राप्त कर लेती है और कालान्तर में इन्हीं शैलियों से विभिन्न उप-शैलियों जैसे-लाट, उत्कल, बङ्गाल, काश्मीर, पल्लव, चोल, पाण्ड्य आदि, का विकास हुआ है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों प्रासाद-मण्डन, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, बृहत्सहिंता, विश्वकर्माप्रकाश, रूपमण्डन में वर्णित प्रासाद के विभिन्न अङ्गों तथा प्रतिमा लक्षण से किसी क्षेत्र विशेष में स्थित प्रासाद का वास्तुशास्त्रीय विवेचन किया जा सकता है। मन्दिर के विभिन्न अङ्गों (जगती, मण्डोवर, शिखर) और इन अङ्गों के स्तरों पर शिल्पाङ्कन है या नहीं, देव विशेष के अनुसार प्रासाद का द्वार किस दिशा में निर्मित है, गर्भगृह में स्थित प्रतिमा जिस देव या देवी की है, वह किस सम्प्रदाय से सम्बन्धित है और किस रूप को प्रकट कर रही है, इन सब बातों का विवेचन वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भवननिर्माण प्राक् वास्तुविचार

—डॉ. नवीन राजपूत

मनुष्य के जीवन को सुखी, समृद्ध, मान—सम्मान युक्त, सुरक्षित एवं शान्तिमय बनाने के लिए जिन—जिन उपकरणों, वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण गृह—निर्माण करना है। वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करता है उसे वास्तु कहते हैं। वस्तुत: प्राकृत रूप से स्थित अनियोजित भूखण्ड को विविध संस्कार करके सुनियोजित स्वरूप प्रदान करना वास्तु कहलाता है तथा जिस शास्त्र में तत् सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी, नियम, उपनियम आदि का वर्णन होता है उसे वास्तु शास्त्र कहते हैं। वास्तुशास्त्र **दस दिशाओं** (पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, पाताल (अध:) तथा आकाश (ऊर्ध्व); **पंचमहाभूतों** (पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एवं आकाश); **पृथ्वी की चुम्बकीय धाराओं** एवं **सूर्यरश्मियों** पर आधारित शास्त्र है। प्रत्येक प्राणि पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के अस्तित्व में भी एक निश्चित अनुपात एवं नियम कार्य करते हैं। वास्तव में पञ्चमहाभूतों के समुचित अनुपातों के परस्पर संबंध को ही वास्तु कहते है।

भवन निर्माण से पूर्व भूमि का चयन अत्यावश्यक कार्य है। यह कृत्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है क्योंकि व्यक्ति का आधा समय अपने निवास स्थान पर व्यतीत होता है यदि निवास वास्तु विरुद्ध हुआ तो व्यक्ति शान्त एवं सुखी जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। अत: भूमि खरीदने से पूर्व भूमि की गुणवत्ता, शोधन, भूमि परीक्षण, भूमि के आस—पास का वातावरण आदि का सूक्ष्मरूप से परीक्षण करने के उपरान्त ही भवन निर्माण हेतु भूमि खरीदनी चाहिए।

भूमि की गुणवत्ता

आश्रय के चार स्थान भूमि, भवन/प्रसाद, यान और शय्या में से भूमि मुख्य अंग है क्योंकि सभी की आश्रयस्थली भूमि ही है। जहाँ आवास का निर्माण निश्चित किया जाना हो, उस स्थान की भूमि का परीक्षण करके ही उसे ग्रहण करना चाहिए। भूमि का आकार, रंग, गन्ध, रूप, शब्द, रस तथा स्पर्श से परीक्षित करके निश्चय करना चाहिए।

आकारवर्णगन्धान् च रूपशब्दसस्पृश:।
एतान् परीक्ष्य क्रमश: सा भूमिर्माननिश्चया।।[१]

---

१. मानसार ३,८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

संहिता ग्रन्थों में ब्राह्मणादि वर्णों के आधार पर भूमि का उपयोग बताया है गृह निर्माण से पूर्व यह ज्ञान आवश्यक है कि चयनित भूखण्ड पर किस वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह निर्माण वृद्धि कारक एवं शुभ होगा।

नारद पुराण के अनुसार शहद के समान गन्ध, श्वेत वर्णा तथा मधुर स्वाद वाली मृदा ब्राह्मणों के लिए शुभ कही है; पुष्प गन्धा, लाल वर्ण वाली, कडुवे स्वाद वाली मिट्टी क्षत्रियों, आम्लीय गन्ध, पीती वर्ण तथा तिक्त स्वाद वाली मिट्टी वैश्यों, मांस की गन्ध, काला रंग, तथा कसैले स्वाद की भूमि शूद्रा कहलाती है और इन्हीं के वास के योग्य होती है।[1] वराहामिहिर ने भूमि को क्रम से वर्णो के लिए सफेद, लाल, पीली और काली शुभ बताई है। गन्ध के विषय में उनका मत भिन्न है कि ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए क्रम से घृत गन्धा, रक्त– गन्धा, अन्नगन्धा, और मद्य गन्धा भूमि प्रशस्त हाती है।[2] वराह ने ब्राह्मणों के लिए मधुर भूमि को स्वीकारा है परन्तु क्षत्रिय आदि के भूमि के स्वाद में भिन्न मत है वे क्षत्रिय के लिए कसैली, वैश्य के लिए खट्टी तथा शूद्रों के लिए कड़वी मिट्टी शुभ मानते है। इसी के साथ ही उन्होंने ब्राह्मणादि वर्णों के लिए क्रम से कुशावाली, मूंजवाली, दूबवाली तथा काशों वाली भूमि शुभ बताई है।[3]

वास्तु प्रदीप में दैवज्ञ वासुदेव ने भी ऐसा ही वर्णन किया है किन्तु वैश्यों के लिए हरे वर्ण की भूमि का उल्लेख किया है–

शुक्लमृत्स्ना च या भूमि ब्राह्मिणी सा प्रकीर्तिता।
क्षत्रिय रक्त मृत्स्ना च हरिद् वैश्या प्रकीर्तिता।।
कृष्णा भूमिर्भवेच्छूद्र चतुर्धा परिकीर्तिता।।[4]

राजवल्लभमण्डन के अनुसार जिस भूमि का रंग श्वेत हो, घी जैसी सुगन्ध हो, सुस्वाद हो वहाँ विप्र निवास करें। रक्त वर्णा, रक्त जैसी गन्ध व कषाय स्वाद वाली भूमि क्षत्रियों, पीले रंग, तिल के तेल जैसी गंध एवं खट्टे स्वाद वाली भूमि पर वैश्यों और श्याम वर्णा मछली गंध व काली मिर्च के स्वाद वाली भूमि शूद्रों के लिए लाभकारी होती है।[5]

मयमतम् में भूमि के आकार का भी वर्णन प्राप्त होता है। ब्राह्मणवर्ण के लिए चतुरस्र अथवा चौकोर भूमि श्रेष्ठ है, क्षत्रियों हेतु लम्बाई से आठवाँ भाग चौड़ाई हो; वैश्यों के लिए लम्बाई से चौड़ाई का छठवाँ भाग अधिक होना चाहिए और शूद्र वर्ण के लिए भूमि की लम्बाई का चौड़ाई से चार भाग अधिक होना उचित होता है।[6]

१. नारद पुराण पूर्वभाग २, ५६, ५४०–४१
२. बृहत् संहिता, वास्तु विद्या अध्याय, ९६
३. बृहत् संहिता, वास्तुविधाध्याय, ९७
४. वास्तु रत्नावली पृ. १५ पर उदुत
५. श्वेता ब्राह्मणभूमिका च घृतवद्गन्धा शुभस्वादिनी रक्ता शोणित गन्धिनी नृपति भू: स्वादे कृषाया च सा। स्वादेऽम्ला तिलतैल गन्धिमुदिता पीता च वैश्या महीकृष्णा मत्स्यसुगन्धिनी च कटुका शुद्रेति भूलक्षणम्।। १,२३
६. मयमतम् २, १०–१४

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भारतीय ऋषियों द्वारा भूमि को चार वर्णों के आधार पर बाँटा गया है वर्णों से उनका तात्पर्य है की ब्राह्मणी भूमि– ब्राह्मण, अध्यापक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, विद्या संस्थान, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, शोधार्थी, नैतिक एवं आध्यात्मिक लोगों को निवास के लिए श्रेष्ठ मानी गई है इसी प्रकार क्षत्रिया भूमि– क्षत्रिय, शासक, मन्त्री, अधिकारी, राज्याधिकारी, राजनेता, सेना, पुलिस, एवं प्रशासन के उच्चाधिकारीयों के आवास तथा कार्यालय बनाने हेतु शुभ मानी गई है। वैश्या भूमि–व्यापारियों, व्यावसायियों (प्रोफेशनल) के निवास एवं कार्यालय हेतु दुकान, शोरूम, व्यावसायिक केन्द्रों के लिए प्रशस्त मानी जाती हैं तथा शूद्रा भूमि प्रायः लोहे, चमड़े के कारखानों एवं सेवक वर्ग के लोगों के निवास के लिए शुभ कही गई हैं।

भूमि दोष व प्रशस्त भूमि

आवास या व्यवसाय के लिए भवन निर्माण से पूर्व भूमि का परीक्षण होना चाहिए यदि भूमि दोष पूर्ण है तो उसकी जाँच आवश्यक होती है। हमारे वास्तु ग्रन्थकारों ने इसकी विशद् चर्चा की है। उनके अनुसार दोषपूर्ण भूमि को त्यागना चाहिए। अथवा दोषों को दूर कर निवास योग्य बनाना श्रेयस्कर है। शिल्प शास्त्र में वर्णन है कि जहाँ पर रेती–कङ्कड़ हो, वाल्मीक या दीमक हो, बाल युक्त हो और काँटेदार या कंटीली झाडियों से युक्त भूमि हो वह नेष्ट होती है।[१] रामचन्द्रमहापात्र कौलभट्टारक ने भी भूमि निर्वाचन में कहा है कि नदी हीन भूमि, पाषाणयुक्त, कीचड़युक्त, जली हुई भूमि वर्जित है यथा–

प्रसादगठने मुख्या देशस्थान विचारणा।
नदी हीन भूमिः वर्ज्या पाषाणमय मृतिका।।
सैकत बहुला भूमिः श्रेष्ठा।
पङ्किला च परित्याज्या दाह भूम्यादि वर्जिता।।[२]

बृहद् वास्तुमालानुसार भूमि परीक्षण हेतु खुदाई में चींटी एवं दीमक के बिल, अजगर–साँप के अण्डे, भूसा, हड्डी, कपड़े, राख, कौडी, रूई, जली लकड़ी, खोपड़ी, खप्पर या लोहा निकले तो वहाँ मकान नहीं बनाना चाहिए। वह भूमि दोष पूर्ण होती है।[३] वास्तुप्रदीपानुसार फटी हुई, शल्ययुक्त, दीमकों से व्याप्त और ऊँची–नीची भूमि को भवन निर्माता दूर से ये छोड़ दें।[४]

---

१. शिल्पशास्त्रम् १, ४

२. शिल्पप्रकाश १, ११–१३

३. पितीलिकाषोडश पक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता।
तुषास्थिचीराणि तथैव भस्मान्यण्डानि सर्पा मरण प्रदाः स्युः।।
वराटिका दुःख कलिप्रदात्री कार्पास एवाति ददाति दुःखम्।
काष्ठं प्रदग्धं त्वतिरोगभीतिर्भवेकालिः खर्परदर्शनेन।।
लोहेन कर्तुर्मरणं निगद्यं विचार्य वास्तु प्रदिशन्ति धीराः। — बृहदवास्तुमाला, पृ. २३ श्लोक ११४–११५

४. बृहद् वास्तुमाला पृ. १६, ७८ श्लो.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अत: सारांश रूप में जिस भूमि में दरार हों, रेतीली हो, कङ्कड़ युक्त हो, वल्मीक–दीमक या चींटियों से व्याप्त हो, बालयुक्त, काँटेदार झाडियों से युक्त हो, कींचड या दलदली हो, शमशान भूमि, अजगर, साँप के अण्डे हो, शल्य युक्त **(जमीन में भूसा, हडडी, कपडे, राख, कौड़ी, रूई, जली लकड़ी, खोपड़ी आदि)** ऊंची–नीची भूमि हो तो वह भूमि दोषपूर्ण कहलाती है तथा वहाँ भवन निर्माण नहीं करना चाहिए।

प्रशस्त भूमि भवन निर्माण हेतु उत्तम होती है। शिल्पशास्त्र में वर्णन है कि वास्तु के लिए भूमि स्निग्ध हो, स्थिर हो, गुल्म लताओं की सुरभि–सुगन्ध से युक्त हो वह भूमि प्रशस्त कही गई है। जिस भूमि के चारों ओर पानी हो वह निवास योग्य भूमि होती है।[1]

वृहद्वास्तुमाला के अनुजार उपजाऊ, चिकनी मिट्टी वाली, पानीवाली घास तथा पत्थरों वाली भूमि निवास योग्य होती है।[2] वराहमिहिरोक्त प्रशस्त भूमि–उत्तम ओषधि, वृक्ष, लतावाली, मधुर, चिकनी, सुगन्धित, समतल, भूमि गृहपति को धन, सुख–शान्ति देती है।[3] अत: भवन निर्माण हेतु प्रशस्त भूमि–ठोस, उपजाऊ, उत्तम औषधि, वृक्षादि से आच्छादित, मधुर, चिकनी, सुगन्धित, समतल, पानी युक्त होती है तथा जिस भूमि पर खड़े होकर सुखानुभूति हो वह भूमि प्रशस्त होती है।

भूमि परीक्षण

भवन निर्माण योग्य भूमि का चयन करके इसके शुभाशुभ परीक्षण की अनेक विधियों के माध्यम से भूमि परीक्षण कर लेना चाहिए। वस्तुत: भवन का आधार भूमि ही है भूमि जितनी ठोस होगी उस पर निर्मित भवन भी उतना ही स्थायी होगा अत: भवन निर्माण से पूर्व भूमि परीक्षण आवश्यक है।

नारद पुराणानुसार भवन निर्माण जिस भूमि पर करना हो उस भूमि पर अपनी कुहनी से लेकर कनिष्का अंगुली तक की माप का लम्बाई × चौड़ाई × गहराई का एक गड्ढ़ा खोद लें। बाद में उसी गड्ढे में उस मिट्टी को डालें, यदि गड्ढ़ा बन्द करने के पश्चात् मिट्टी शेष बचती है तो भूमि उत्तम तथा धनादि वृद्धि कारक होती है। यदि गड्ढ़ा भरने के पश्चात् मिट्टी शेष नहीं बचती तो मध्यम भूमि तथा गड्ढ़ा कुछ खाली रह जाय तो वह स्थान रहने योग्य नहीं होता। उस भूमि को त्याग दें।[4] विश्वकर्मा प्रकाश में भी उपर्युक्त विधि का ही वर्णन प्राप्त होता है।[5] एक अन्य प्रकार में उपर्युक्त विधि से बनाए गड्ढ़े में

---

१. शिल्पशास्त्रम् १, ४

२. बृहदवास्तुमाला पृ. १५. ७७ श्लोक

३. शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा, स्निग्धा समानसुखदा च महिनराणाम्।
अप्यध्वनि श्रम विनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।
बृहतसंहिता, वास्तुविद्याध्याय, ८८

४. नारद पुराण, पूर्व भाग २, ५६, ५४३

५. बृहदवास्तुमाला पृ. २१ श्लो १०७ में उद्धत

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सांयकाल पानी भरे यदि प्रात: काल में कुछ पानी उसके शेष रहे तो भूमि उत्तम है। यदि कीचड़ शेष रहे तो मध्यम, यदि जमीन सूख गई हो तो वह भूमि हानिकारक होती है।[१] नारायण भट्ट ने भी उपर्युक्त विधि कही है।[२]

वृहत्संहितानुसार गड्ढ़े को जल से भरने के पश्चात् १०० कदम चलें तथा फिर वापस आकर देखें यदि पानी भरा रहे तो शुभ, यदि आधा रह जाए तो मध्यम तथा यदि सारा जल सूख जाए तो उस जमीन का त्याग कर दें।[३] वास्तुरत्नावली में भी उपर्युक्त वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वर्णित है कि यदि पानी दक्षिण की ओर घूमे तो सुख, बायीं ओर घूमे तो मृत्यु योग होता है।[४]

मत्स्य पुराण में वर्णन है कि भूमि परीक्षा हेतु एक हाथ प्रमाण का गड्ढा खोदकर उसे भली–भांति लीप–पोतकर साफ कर दें, फिर एक कच्चे पुरवे में घी भरकर उसमें चार दिशाओं में चार बत्तियाँ जला दें और उसे उसी गड्ढ़े में रखें यदि पूर्व दिशा की बत्ती अधिक देर तक जलती रहे तो ब्राह्मण के लिए शुभ, इसी प्रकार से उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की बत्तियों को क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हेतु कल्याण कारक समझना चाहिए। यदि वास्तुदीपक चारों ही दिशाओं में जलता रहे तो वह भवन निर्माण हेतु सभी वर्णों के लिए शुभदायी होती है।[५] वराह मिहिर ने भी बृहत्संहिता में उपर्युक्त भूमि परीक्षा का वर्णन किया है।[६]

सूत्रधार वाउरी महाराणा ने दीप विधि में वर्णन किया है कि गड्ढ़े में दीपक स्थापित करें और देखें कि यदि उस दीपशिखा का धुआँ पूर्व में जाए तो वृद्धिकारक, आग्नेयकोण में घर जलाने वाला, दक्षिण में मृत्युदायक, नैर्ऋत्य में दु:खदायक, पश्चिम में धन नाश कारक, वायव्य में व्याधि–पीड़ाकारक, उत्तर में सम्पत्ति प्रदायक तथा ईशान में दिखाई दे तो सुखों की अभिवृद्धि करने वाला होता है। इसी अनुसार वास्तु के भागों का निर्णय करना चाहिए।[७] शिल्पशास्त्र में अन्य विधि का भी वर्णन है कि भूमि चयन से पूर्व वहाँ पर तिलों की बुवाई करनी चाहिए। यदि भूमि पर तीन रात्रियों के बाद तिल का अङ्कुरण हो जाए तो उस भूमि को ब्राह्मण जाति के लिए प्रशस्त माने। यदि पांच रात्रियों के पश्चात् तिल अङ्कुरित हो तो क्षत्रिय

---

१. नारदपुराण, पूर्वभाग २, ५६, ५४४
२. बृहदवास्तुमाला, पृ. २२ श्लो. १११ में उद्धत
३. बृहत संहिता, वास्तु विद्यायाध्याय, ९३
४. बृहद्वास्तुमाला, पृ. २२ श्लो. १०८–१०९
५. अरन्तिमात्रे वै गर्ते स्वनुलिप्ते च सर्वश:।
घृत माम शरावस्थां कृत्वा वर्तिचर्तुष्टयम्।
ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं तत्पूर्ण सर्वदिङ् मुखम्।।
दीप्तौ पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनु पूर्वश:।
वास्तु: सामूहिको नाम दीप्यते सव्रतस्तुय:।।
शुभद: सर्ववर्णानां प्रसादेषु गृहेषु च। मत्स्य पुराण २५३, १३–१६
६. बृहत संहिता, वास्तु विद्याध्याय, ९२–९५
७. शिल्पशास्त्रम् १, १३–१५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हेतु, सात रात्रियों के पश्चात् अङ्कुरण हो तो वैश्यों के लिए उपयुक्त होती है तथा यदि नौ रात्रियों के पश्चात् तिलों का अङ्कुरण हो तो उसे शूद्रों हेतु प्रशस्त कहना चाहिए।[१]

लाल किताब में भी एक भूमि परीक्षण की विधि दृष्टिगोचर होती है। जिसमें भवन की नींव भरते समय भूमि के चारों ओर जल डालकर रेखा खींचकर, चन्द्रमा की वस्तुओं (चावल, दूध, पानी) से भरा बर्तन ४० से ४३ दिन तक जमीन में दबाकर परिवार में होने वाले शुभाशुभ प्रभाव को देंखे, अशुभ प्रभाव में परिवार में रोग, मुकदमा, झगड़ा या कार्यो में बाधाए अनायास ही आ जाएगी। यदि अशुभ प्रभाव होता है तो तुरंत दबाया हुआ बर्तन निकालकर बहते पानी में बहा देने पर अशुभ प्रभाव से मुक्ति मिल जाती है फिर वहाँ निर्माण न करें।[२]

जिस भूमि पर पहुँचते ही मन और आँखें प्रसन्न हो उस पर घर बनाकर निवास करना चाहिए यह गर्ग आदि ऋषियों का मत है—

मनसश्चक्षुर्षोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।।[३]

भूमि का ढलान

वास्तुशास्त्र के अनुसार भूमि के ढलान का भी व्यक्ति की सोच पर तथा रूझान पर प्रभाव डालता है अत: इसका विचार भी आवश्यक है समान्यत: भूमि का ढलान पूर्व और उत्तर की ओर हो तो शुभ तथा पश्चिम एवं दक्षिण की ओर ढलान हो तो अशुभ होता है।

वास्तुरत्नावली में वर्ण के अनुसार ढलान का फल प्राप्त होता है— उत्तर की तरफ ढालान वाली भूमि में ब्राह्मणों को, पूर्व की ओर ढालान वाली भूमि में क्षत्रियों को, दक्षिण की ओर ढालान वाली भूमि में वैश्यों को और पश्चिम की ओर ढालान वाली भूमि शूद्रों के लिए शुभ होती है।[४] पूर्वादि दिशाओं में ढालान के आधार पर फल का वर्णन है कि पूर्वादिक्रम से लक्ष्मी की प्राप्ति, दाह, मृत्यु, धन हानि, पुत्र नाश, प्रवास, धन लाभ और विद्याप्राप्ति होती है —

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानिं सुतक्षयम्।
प्रवासं धन लाभं च विद्या लाभं क्रमेण च।।
विद्धात्यचिरेणैव पूर्वादि प्लवता मही।।[५]

---

१. शिल्पशास्त्रम् १, ८–९
२. लाल किताब के अनुपम सूत्र/ राधेश्याम मिश्र अध्याय ११, पृ. १४०
३. वृहद्वास्तुमाला पृ. १८ श्लो ९३
४. वास्तुरत्नावली पृ. १४,
५. वास्तुरत्नावली पृ. १४–१५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नारदपुराण में आया है कि पूर्व, उत्तर और ईशान दिशा में नीची भूमि सब मनुष्यों के लिये अत्यन्त वृद्धिकारक होती है। अन्य दिशाओं में नीची भूमि सबके लिये हानिकारक होती है।[1]

सुग्रीव के राज्याभिषेक के बाद भगवान् श्रीराम ने प्रस्रवणगिरि के शिखर पर अपने रहने के लिए एक गुफा चुनी। उस गुफा के विषय में वे लक्ष्मण से कहते हैं—

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति।।[2]

यहाँ का स्थान ईशानकोण की ओर से नीचा है; अत: यह गुफा हमारे निवास के लिये बहुत अच्छी रहेगी। नैर्ऋत्यकोण की ओर से ऊँची यह गुफा हवा और वर्षा से बचाने के लिये अच्छी होगी।

वराह के कथनानुसार — जिस भूमि का ढलान पूर्व की ओर हो वह विकास एवं वृद्धिकारक होती है। जिसका ढलान उत्तर की ओर हो वह धन—धान्य देती है। जिसका ढलान पश्चिम को हो वह धन नाशक और जिसका ढलान दक्षिण की ओर हो वह व्याधि एवं मृत्युदायक होती है।[3]

वास्तुरत्नावली में आठों दिशाओं में ढलान का फल — यदि ईशान कोण की ओर ढलान हो तो गृह स्वामी को धन और सुख देती है एवं पूर्व की ओर वृद्धि, उत्तर की ओर धनलाभ, अग्निकोण की ओर मृत्यु और शोक, दक्षिण की ओर गृह का नाश, नैर्ऋत्य कोण की ओर धनहानि, पश्चिम की ओर कीर्तिनाश, और वायव्यकोण की ओर प्लवा भूमि नित्य उद्वेग करती है। मध्यम में ढालान वाली भूमि अच्छी नहीं है।[4]

तात्पर्य यह है कि जिस भूखण्ड पर घर बनाना हो उसमें नैर्ऋत्य कोण सबसे ऊँचा और ईशान कोण सबसे नीचा होना चाहिए। इसी को स्पष्ट करने हेतु एक तालिका दे रहें है जो उसे समझाने में सहायक होगी।[5]

वीथिनाम	दिशा-जिसमें ऊँची हो	दिशा जिसमें नीची हो	फल
गोवीथि	पश्चिम	पूर्व	शुभ
जलवीथि	पूर्व	पश्चिम	अशुभ
यमवीथि	उत्तर	दक्षिण	अशुभ
गजवीथि	दक्षिण	उत्तर्	शुभ
भूतवीथि	ईशानकोण	नैर्ऋत्यकोण	अशुभ
नागवीथि	अग्निकोण	वायव्यकोण	अशुभ
वैश्वानरी	वायव्यकोण	अग्निकोण	शुभ
धनवीथि	नैर्ऋत्यकोण	ईशानकोण	शुभ

१. नारदपुराण पूर्व० ५६। ५४२
२. वाल्मीकि०, किष्किंधा० २७। १२
३. पूर्वप्लवा वृद्धिकरी उत्तरा धनदा स्मृता। अर्थक्षयकरी विन्द्यात् पश्चिमप्लवना तत:।।
दक्षिणप्लवना पृथ्वी नराणां मृतिदा भवेत्।। वृहतसंहिता वास्तुविधा अध्याय।
४. वास्तुरत्नावली पृ. १५
५. भारतीय वास्तुशास्त्र, अध्याय द्वितीय पृ. ४६-४७

CC-0. Digitized by Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by Mumukshu Bhawan Lakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र के अनुसार विभिन्न दिशा और कोणों में ऊँची तथा नीची भूमि का फल इस प्रकार है—

ऊँचाई—नीचाई का फल[१]

दिशा/कोण	ऊँचाई का फल	नीचाई का फल
पूर्व	सन्तान को हानि	सुख, समृद्धि
दक्षिण	धन वृद्धि	व्याधि, भय
पश्चिम	धन एवं यश की वृद्धि	धन हानि, रोग
उत्तर	दरिद्रता, कष्ट	मंगल कारक
आग्नेय	१. वायव्य व ईशान से ऊँची हो तो शुभ २. अन्यथा अशुभ	१. यदि नैर्ऋत्य से नीची हो तो शुभ २. अन्यथा अशुभ
नैर्ऋत्य	सुख, शान्ति	व्यसन, व्याधि
वायव्य	१. ईशान से ऊँची हो तो शुभ २. अन्यथा अशुभ	१. नैर्ऋत्य एवं आग्नेय से नीची तो शुभ २. सुख, शान्ति
ईशान	चिन्ता धन हानि	अनिष्टकारी
मध्य भाग	समृद्धि एवं ऐश्वर्य	अमंगलकारी

निष्कर्षत: जिस भूखण्ड पर घर बनाना हो उसमें नैर्ऋत्य कोण सबसे ऊँचा और ईशान कोण सबसे नीचा होना चाहिए। वायव्य कोण ईशान कोण से ऊँचा तथा आग्नेय कोण वायव्य से ऊँचा होना चाहिए। ऐसे भूखण्ड पर निवास करने से जीवन में प्रगति एवं समृद्धि होती है।

गजपृष्ठ आदि भूमियाँ

भूखण्ड की जमीन की विभिन्न दिशाओं और कोणों में ऊँचाई के आधार पर उस भूमि को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है — १. गजपृष्ठ भूमि, २. कूर्मपृष्ठ भूमि, ३. दैत्यपृष्ठ भूमि, एवं ४. नागपृष्ठ भूमि।

दक्षिण, पश्चिम, नैऋत्य की ओर ऊँची भूमि को गजपृष्ठ कहते हैं। गजपृष्ठ भूमि पर निवास करने से मनुष्य लक्ष्मी (धन) से पूर्ण रहता है और आयुवृद्धि होती है। बीच से उठी और चारो ओर नीची भूमि

१. वृहद् वास्तुमाला पृ. १४ श्लो. ६९-७०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

को कूर्मपृष्ठ कहते हैं कूर्मपृष्ठ भूमि पर वास करने से प्रतिदिन उत्साह, वृद्धि, सौख्य और धन–धान्य का विपुल लाभ होता है। पूर्व, अग्नि, ईशान कोण में ऊंची और पश्चिम दिशा में नीची भूमि को दैत्यपृष्ठ कहते हैं। दैत्यपृष्ठ पर बने मकान में लक्ष्मी प्रवेश नहीं करती और धन, पुत्र, पशु इत्यादि की हानि होती है। पूर्व–पश्चिम को लम्बी और उत्तर दक्षिण में ऊँची भूमि को नागपृष्ठ कहते हैं। इस भूमि पर वास करने वाला उच्चाटन मृत्युभय, स्त्री पुत्रादि की हानि, पग–पग पर शत्रुओं की वृद्धि होती है।[1]

भूमि	ऊँचाई-निचाई-दिशा	फल
गजपृष्ठ	दक्षिण पश्चिम, नैर्ऋत्य एवं वायव्य में ऊँची	आयुवृद्धि धनलाभ
कर्मपृष्ठ	मध्य से ऊँची और चारों ओर नीची	उत्साह, धनवृद्धि
दैत्य पृष्ठ	पूर्व, ईशान एवं आग्नेय में ऊँची तथा पश्चिम में नीची	धन, पुत्र एवं पशुओं की हानि
नागपृष्ठ	पूर्व-पश्चिम की ओर लम्बी उत्तर-दक्षिण में ऊँची और मध्य में नीची	पत्नी हानि, पुत्र हानि एवं शत्रुवृद्धि

भूखण्ड के आस-पास का क्षेत्र

जिस भूखण्ड पर अपना आवास बनाना हो उसके आस–पास के वातावरण का, हवा का, पानी का, तथा व्यक्तियों के व्यवहार का जीवन पर बहुत असर पड़ता है। अत: भूखण्ड के आस–पास के क्षेत्रे में स्थिर अन्य भवन, पेड़, जलाशय, सड़क, नदी, पहाड़ एवं टीले, अन्य सार्वजनिक स्थल आदि का विचार करना चाहिए। इस विषय में शुभाशुभत्व के निर्णायक विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ जानकारी का सार रूप वर्णित है –

ऊँचाई–गहराई :–

भूखण्ड के दक्षिण, पश्चिम में ऊँचे भवन, पहाड़ियाँ, टीले तथा ऊँचे वृक्ष आदि हो तो शुभ होते हैं। यदि उपर्युक्त दिशाओं में गड्ढ़े हो, जमीन नीची हो तो अशुभ प्रभाव देता है। दक्षिण में नदी, नहर, नाला, तालाब या पोखर आदि जलाशय का होना अशुभ होता है। कुआं और बोरिंग का भी होना अशुभ है।

१. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम्, ४५, ४३-५०

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तर–पूर्व में ऊँचे भवन, पहाड़ियाँ, टीले तथा ऊँचे वृक्ष आदि वर्जित हे, उत्तर–पूर्व में सड़क होना, भूमिगत जलस्त्रोत–कुआं, तालाब एवं बावडी, जलाशय होना, मैदान, उपवन आदि नदी, नहर या नाला होना जिसका प्रवाह दक्षिण से उत्तर या पश्चिम से पूर्व में हो तो शुभ होता है।

प्लाटपर आसपास वाले घरों का विसर्जित पानी या वर्षा का जल आता है वहाँ मकान नहीं बनाना चाहिए।

सार्वजनिक स्थलः–

- भूखण्ड के आस–पास विद्यालय, धर्मशाला, सिनेमा हाल, माल, बड़ा–मन्दिर जो भूखण्ड पर धूप एवं हवा का आवागमन में अवरोधक हो अशुभ होते हैं। रेलवे स्टेशन, बस स्टेशन, हवाई अड्डा आदि के आस–पास भी घर होने से घर में अशांति रहती है।
- भूखण्ड भीड़–भाड़ वाले स्थान, चौराहे पर हो, मार्किट में हो, चहल–पहल वाली सड़क या मुख्य मार्ग पर हो तो अशुभ होता है।
- विधर्मियों के पूजा स्थल, अस्पताल, पुलिस थाना, कचहरी, नदीघाट, रेलवे कॉसिंग, मदिरालय, होटल के पास वाला भूखण्ड मकान बनाने योग्य नहीं होता क्योंकि ये सभी स्थान ऋणात्मक शक्ति (Negative energy) के होते हैं जो घर का वातावरण खराब करते हैं।

घर के निकट वृक्षों का विचारः –

अशोक, पुन्नाग, मौलसिरी, शमी, चम्पा, अर्जुन, कटहल, केतकी, चमेली, पाटल, नारियल, नागकेशर, केशर, जयन्ती, अड़हुल (जपाकुसुम), महुआ, बकुल, आम, नीम, शाल आदि वृक्ष घर के पास शुभ हैं।[1]

वट, सेमल, पाकर, गूलर, बहेड़ा, पीपल, कपित्थ, अगस्त्य, बेर, निर्गुण्डी, इमली, कदम्ब, केला, नींबू, अनार, खजूर, बेल आदि वृक्ष घर के पास अशुभ हैं।[2]

कई वृक्ष ऐसे हैं, जो दिशाविशेष में स्थित होने पर शुभ अथवा अशुभ फल देनेवाले हो जाते हैं;[3] –

पूर्व में पीपल भय तथा निर्धनता देता हैं। परन्तु बरगद कामना–पूर्ति करता है।

आग्नेय में वट, पीपल, सेमल, पाकर तथा गूलर पीड़ा और मृत्यु देनेवाले हैं। परन्तु अनार शुभ है।

दक्षिण में पाकर रोग तथा पराजय देनेवाला है, और आम, कैथ अगस्त्य तथा निर्गुण्डी धननाश

---

१. वृहद्वास्तुमालाप्रयोगः, पृ. ११६
२. वही
३. भवनभास्कर, पृ. ४६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

करनेवाले हैं। परन्तु गूलर शुभ है।

नैर्ऋत्य में इमली शुभ है।

दक्षिण–नैर्ऋत्य में जामुन और कदम्ब शुभ हैं।

पश्चिम में वट होने से राजपीड़ा, स्त्रीनाश व कुलनाश होता है, और आम, कैथ अगस्त्य तथा निर्गुण्डी धननाशक हैं परन्तु पीपल शुभदायक है।

वायव्य में बेल शुभदायक है।

उत्तर में गूलर धन ह्रास करने वाला है परन्तु पाकर शुभ है।

ईशान में आँवला शुभदायक है।

ईशान–पूर्व में कटहल एवं आम शुभदायक हैं।

दिशानुरूप वृक्षविन्यास चक्र—

	ईशान	पूर्व	आग्नेय
	आँवला, कटहल, आम	बरगद	
उत्तर	पाकर	दिशा विशेष में शुभ वृक्ष	गुलर दक्षिण
	बेल	इमली	पीपल
	वायव्य	पश्चिम	नैर्ऋत्य

घर के पास काँटेवाले, दूधवाले तथा फलवाले वृक्ष स्त्री और सन्तान की हानि करनेवाले हैं। यदि इन्हें काटा न जा सके तो इनके पास शुभ वृक्ष (पुन्नाग, अशोक, नीम, मौलसिरी, कटहल, रूमी) लगा दें।

काँटेवाले वृक्ष शत्रु से भय देनेवाले, दूधवाले वृक्ष धन का नाश करनेवाले और फलवाले वृक्ष सन्तान का नाश करने वाले होते हैं। इनकी लकड़ी भी घर में नहीं लगानी चाहिये—

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम्।।[1]

---

१. बृहत्संहिता ५३। ८६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

समरांगणसूत्रधार के कथनानुसार 'बेर, केला, अनार तथा बीजू नींबू—ये जिस घर में होते हैं, उसमें रहनेवाले वाले की वंशवृद्धि नहीं होती।'

बदरी कदली चैव दाडिमी बीजपूरिका।
प्ररोहन्ति गृहे यत्र तद्गृहं न प्ररोहति।।[1]

कृष्ण भगवान् द्वारा तुलसी के वैशिष्ट्य की चर्चा ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस प्रकार की गई है कि घर के भीतर लगायी हुई तुलसी मनुष्यों के लिये कल्याणकारिणी, धन—पुत्र प्रदान करनेवाली, पुण्यदायिनी तथा हरिभक्ति देनेवाली होती है। प्रात:काल तुलसी का दर्शन करने से सुवर्ण—दान का फल प्राप्त होता है।[2]

भविष्यपुराण में तुलसी की दिशा के सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने घर से दक्षिण की ओर तुलसीवृक्ष का रोपण नहीं करना चाहिये, अन्यथा यम—यातना भोगनी पड़ती है।[3]

वास्तुसौख्यम के अनुसार 'मालती, मल्लिका, मोचा (कपास), इमली, श्वेता (विष्णुक्रान्ता) और अपराजिता जो वास्तुभूमि पर लगाता है, वह शस्त्र से मारा जाता है।'

मालतीं मल्लिकां मोचां चिञ्चां श्वेतां पराजिताम्।
वास्तुन्यां रोपयेद्यस्तु स शस्त्रेण निहन्यते।।[4]

वाटिका— जो घर से पूर्व, उत्तर, पश्चिम या ईशान दिशा में वाटिका बनाता है, वह सदा गायत्री से युक्त, दान देनेवाला और यज्ञ करनेवाला होता है परन्तु जो आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य या वायव्य में वाटिका बनाता है, उसे धन और पुत्र की हानि तथा परलोक में अपकीर्ति प्राप्त होती है। वह मृत्यु को प्राप्त होता है। वह जातिभ्रष्ट व दुराचारी होता है।

यदि घर के समीप अशुभ वृक्ष लगे हों और उनको काटने में कठिनाई हो तो अशुभ वृक्ष और घर के बीच में शुभ फल देनेवाले वृक्ष लगा देने चाहिये। यदि पीपल का वृक्ष घर के पास हो तो उसकी सेवा—पूजा करते रहना चाहिये।

दिन के दूसरे और तीसरे पहर यदि किसी वृक्ष, मन्दिर आदि की छाया मकान पर पड़े तो वह सदा दु:ख व रोग देनेवाली होती है। सूर्योदय से लेकर तीन—तीन घण्टे का एक पहर होता है।

जो घर किसी पेड की छाया या पक्के मकान की छाया से आच्छादित हो तो उसमें वास करने से उच्चाटन होता है। दिन के प्रथम या चतुर्थ प्रहर की छाया दोष युक्त नहीं होती किन्तु द्वितीय और तृतीया प्रहर की छाया दु:खदायिनी होती है। अत: ऐसे घर को छोड़ देना चाहिए।

---

१. समरांगणसत्रधार ३८। १३१
२. ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्ण० १०३। ६२-६३
३. भविष्यपुराण म० १
४. वास्तुसौख्यम् ३९

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

- दो बड़े भूखण्डों के बीच का भूखण्ड रहने योग्य नहीं होता।
- आस-पास में झुग्गी-झोपड़ी हो तो शुभ नहीं होता।
- भूखण्ड में बाँबी, बिल, मधुमक्खी का छत्ता, कौआ या उल्लू के घोंसले आदि हो तो उन्हें हटाकर ही मकान बनाना चाहिए।

भूखण्डों के आकार

वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के लिये भूखण्डों के आकार पर पर्याप्त विचार किया गया है। यथा आयताकार भूखण्ड अत्यन्त शुभ होता है, वर्गाकार धनदायक, भद्रासन सफलतादायक, वृत्ताकार शुभ, चक्राकार दरिद्रतादायक, विषमवाहु शोकप्रद, त्रिकोणाकार राजभयदायक, शकटाकार निर्धनता दायक, दण्डाकार पशु एवं वाहन हानिकारक, मृदंगाकार स्त्रीनाशक, सिंहमुख बन्धककारक, गोमुख शुभकारक, व्यंजनाकार धननाशक, कुर्मपृष्ठ वध—बन्धनकारक, सूर्पाकार सम्पत्तिनाशक, धनुषाकार चोर भय दायक तथा अर्धचन्द्राकार भूखण्ड क्लेशदायक होता है।[1]

वास्तुशास्त्र में चौकोर, आयताकार, भद्रासन और वृत्ताकार—इन चार घरों को श्रेष्ठ बताया गया है। यद्यपि चौकोर घर को सभी ग्रन्थों में उत्तम बताया गया है, तथापि ब्रह्मवैवर्तपुराण में भगवान् श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा के प्रति कहा है—

दीर्घे प्रस्थे समानञ्च न कुर्य्यान्मन्दिरं बुधः।
चतुरस्त्रे गृहे कारो गृहिणां धननाशनम्।।[2]

'बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि जिसकी लम्बाई—चौड़ाई समान हो, ऐसा घर न बनाये; क्योंकि चौकोर घर में वास करना गृहस्थों के धन का नाशक होता है।

घर की परिमित लम्बाई—चौड़ई में पृथक्—पृथक् दो का भाग देने पर यदि शून्य शेष आये तो वह घर मनुष्यों के लिये शून्यप्रद होता है। यदि शून्य शेष न आये तो वह घर शुभ होता है।[3] आयताकार मकान में चौड़ाई से दुगुनी से अधिक लम्बाई नहीं होनी चाहिये। चौड़ाई से दुगुनी या उससे अधिक लम्बाई गृहस्वामी के लिये विनाशकारक होती है—**'विस्ताराद् द्विगुणं गेहं गृहस्वामिविनाशनम्'**।[4]

उपर्युक्त चर्चा के अनुसार निष्कर्षतः किसी भी भूखण्ड का आकार, विस्तार, कटान, आस—पास का वातावरण, भूमि का ढ़लान आदि के आधार पर भूखण्ड की गुणवत्ता का निर्धारण होता है। अतः जिस भूखण्ड का आकार आयताकार, वर्गाकार या वृत्ताकार हो प्रत्येक कोण समकोण हो, भूमि का ढ़लान पूर्व या उत्तर की ओर हो, पश्चिम एवं दक्षिण में पहाड़, चट्टान, ऊचे भवन या ऊचे वृक्ष हों तथा भूमि लताओं से परिपूर्ण हो,

---

१. वृहद्वास्तुमालाप्रयोगः, पृ. २०
२. श्रीकृष्ण १०३।५७
३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्ण० १०३।५७-५८
४. विश्वकर्मप्रकाश २।१०९

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूखण्ड के आस–पास का वातावरण देखने में अच्छा लगे तथा मन की संतुष्टि हो तो वह उत्तम भूखण्ड कहलाता है।

शल्य युक्त भूमि हो, जमीन पोली हो, जमीन में दीमक, बिल, रूई, राख, भूसा, लकड़ी हो, भूमि का ढ़लान पश्चिम या दक्षिन की तरफ हो, उत्तर और पूर्व की तरफ पहाड़, चट्टान या ऊचे भवन हो, भूखण्ड का आकार असमान्य हो, भूखण्ड के आस–पास सरकारी कार्यालय, विद्यालय, सिनेमाहॉल, बड़ा मन्दिर, शमसान, समाधि हो, मकान के समीप जुग्गी–झोपड़ी हो, अस्पताल, थाना, कचहड़ी हो, भीड़–भाड़ या कोलाहल होता हो वह भूखण्ड निम्न कोटि के होते हैं तथा ऐसे भूखण्ड में भवन निर्माण नहीं करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र का स्वरूप

–डॉ. मीतू गौड़

भारतीय चिन्तनधारा के आदि स्रोत के रूप में 'वेद' सभी शास्त्रों के मूल आधार हैं। प्रत्येक वेद का एक उपवेद है। 'स्थापत्य' वेद अथर्ववेद का उपवेद है। स्थापत्य वेद का अभिप्राय 'निवास' योग्य स्थापना से है। अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद में वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया गया है।

'वस् निवासे' धातु में तुण् प्रत्यय का योग होने पर निष्पन्न 'वास्तु' शब्द 'निवास' योग्य भूखण्ड तथा गृह का बोधक है।[1] एक अनियोजित भूखण्ड को सुनियोजित कर निवास योग्य बनाना ही 'वास्तु' है। अतः गृह, भवन, दुर्ग, मन्दिर, ग्राम, नगर, पुर आदि स्थान, जिनमें मनुष्य वास करते हैं, 'वास्तु' कहलाते हैं। शुभ वास्तु में निवास से धन-धान्य, सुख-समृद्धि, वैभव एवं सौभाग्यादि की वृद्धि तथा अशुभ वास्तु से इनका ह्रास होता है। इसीलिए वास्तु के शुभाशुभ की परीक्षा करनी अत्यावश्यक है। वर्तमान काल में मनुष्य के निवास, व्यक्ति के किसी भी कार्मिक-कार्य; यथा-व्यवसाय, उद्योग, सेवा आदि तथा किसी भी सामुदायिक एवं धार्मिक स्थान; यथा-पाठशाला, मन्दिर इत्यादि के उपयोग में आने वाले आवासीय, व्यावसायिक, औद्योगिक, सामुदायिक एवं धार्मिक उपयोग हेतु नियत भूखण्ड **'वास्तु'** कहलाते हैं एवं जिस शास्त्र के अन्तर्गत इनके निर्माण, उपयोग आदि के नियमों एवं सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, वह **'वास्तुशास्त्र'** कहलाता है।

वैदिक काल में उद्भूत वास्तुशास्त्र का पूर्ण विकास 'आगम' एवं 'पुराण' काल में हुआ। भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। छान्दोग्य उपनिषद् में इन्हें पञ्चम वेद कहा गया है- **नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ, इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां**

---

1. क. अमरसिंह, अमरकोषः - द्वितीयं काण्डम्, 2/19
   ख. आप्टे, वामन शिवराम - संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 923

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वेदः।[2] मत्स्य पुराण[3] के अनुसार भी सभी शास्त्रों की उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्मा ने 'पुराण' का प्रथम स्मरण किया, तदनन्तर उनके मुखों से वेदादि निःसृत हुए। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत आदि अठ्ठारह महापुराणों में **मत्स्य पुराण** एक विशिष्ट पुराण है। इसे मत्स्यरूपधारी श्रीहरि ने प्रलयकाल में एकार्णव के जल में मनु के प्रति कहा था- **मत्स्यरूपेण हरिणा कथितं मनवेऽर्णवे।**[4] अतएव भगवान विष्णु के मत्स्यावतार से सम्बद्ध होने के कारण इसे **'मत्स्यपुराण'** की संज्ञा दी गई। भगवान मत्स्य के द्वारा राजा वैवस्वत मनु तथा सप्तर्षियों को दिए गए कल्याणकारी उपदेश, भगवान् मत्स्यावतार की कथा, मनु मत्स्य संवाद, सृष्टि वर्णन, तत्त्व मीमांसा, मन्वन्तर, पितृवंश, व्रतानुष्ठानों की विधि, नवग्रहस्वरूप, सती सावित्री कथा, भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठादि ऋषियों के वंश वर्णन आदि विविध रोचक एवं शिक्षाप्रद पठनीय विषयों के साथ साथ, विभिन्न देवताओं की प्रतिमाओं के स्वरूप, लक्षण, आकार तथा निर्माण विधि; देव प्रतिष्ठा एवं गृह, भवन, देवालय, प्रासाद निर्माण संबंधी वास्तु विद्या आदि विविध उपयोगी विषयों का वर्णन भी मत्स्य पुराण की महती विशेषता है। मत्स्य पुराण में वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत वास्तु के प्रादुर्भाव, भूमि चयन, भू परीक्षा, वास्तु चक्र, स्तम्भ, द्वार, सामान्य गृह, भवन, देवालय, देवप्रतिमा, मण्डप, वेदी आदि के निर्माण की सही विधि; इनके भेद, लक्षण, मान, आकार, स्वरूप, उनके निर्माण में ग्राह्य काष्ठ आदि का वर्णन ही नहीं, अपितु विविध देवों की प्रतिमा, उनके स्वरूप, उनके अभिषेक, प्रतिष्ठा तथा पूजन आदि की उचित विधि, पीठिकाओं के भेद, लक्षण, फल, प्रतिमा के अधिवासन आदि की उचित विधि, प्रतिमा-प्रतिष्ठा की विधि तथा अन्ततः वास्तु शान्ति एवं गृह प्रवेश आदि की सम्यक् विधि एवं इनके शुभ एवं दुष्प्रभाव आदि का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है, जिनका विवेचन इस प्रकार है-

1. वास्तु का प्रादुर्भाव

वास्तु के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में एक कथा इस प्रकार वर्णित है कि प्राचीन काल में भयंकर 'अन्धक-वध' के समय प्रलयंकारी विकराल रूप 'भगवान शंकर' के ललाट से पृथ्वी पर गिरे स्वेदबिन्दु से एक भीषण एवं विकराल मुख वाला भयावह प्राणी उत्पन्न हुआ।[5] पृथ्वी

---

2. छान्दोग्य उपनिषद् - 7/1/4
3. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
   नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ।।
   अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः। -मत्स्य पुराण -3/3-4
4. मत्स्य पुराण -291/31
5. वही - 252/5-6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पर गिरे हुए अन्धकों के रक्तपान के पश्चात् भी अतृप्त, उस विकराल प्राणी ने अपनी भूख शान्त करने हेतु त्रिशूलधारी शिव को पूजा से प्रसन्न कर उनसे तीनों लोकों को ग्रस लेने की सामर्थ्यता का वर प्राप्त किया। वर की शक्ति के प्रभाव से अपने विशाल शरीर से स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूमण्डल को अवरूद्ध करते हुए वह प्राणी पृथ्वी पर आ गिरा। इससे भयभीत देवताओं, त्रिमहादेवों, दैत्य-दानव एवं असुरों ने उसे बलपूर्वक 'स्तम्भित' कर दिया। उस प्रक्रिया में जिस-जिस देव ने उसके जिस-जिस भाव को आक्रान्त किया, उसी अंग में उस देवता का **'निवास'** वन गया। इस प्रकार सभी देवताओं के निवास करने के कारण वह उत्कट प्राणी **'वास्तु'** संज्ञा से विख्यात हुआ।[6] अतएव सभी देवों का जहाँ आवास हो, वह है **'वास्तु'**। इस वास्तु पुरूष का ब्रह्मा आदि देवताओं ने निम्न हविष्य (आहार) निर्धारित किया।[7]

i) वास्तु के प्रसंग में तथा वैश्वदेव के अन्त में प्रदत्त बलि भाग।

ii) वास्तु-शान्ति हेतु किए गए यज्ञ का भाग।

iii) यज्ञोत्सव में दी गई बलि।

iv) वास्तु पूजा न करने वाले व्यक्ति।

v) अज्ञानवश किया गया यज्ञ।

इस प्रकार अपने आहार की व्यवस्था होने पर वह वास्तु नामक विकराल प्राणी शान्त एवं प्रसन्न हो गया तथा तभी से शान्ति की प्राप्ति हेतु गृह, भवन, देवालयादि निर्माण कार्यों में **वास्तु-यज्ञ** का प्रवर्तन हुआ।[8] मत्स्य पुराण के अनुसार इस वास्तु विषयक सम्बन्धी वास्तु विद्या का ज्ञान मत्स्यरूपधारी भगवान विष्णु ने संक्षेप में मनु को प्रदान किया था। इस शास्त्र के 18 उपदेष्टा हुए जो इस प्रकार है– भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, भगवान शंकर, इन्द्र, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरूद्ध, शुक्र एवं बृहस्पति।[9] इन्होने वास्तु की विस्तृत व्याख्या की तथा शुभ कीर्ति अर्जित की। इनमें भी अश्विनी कुमार, विश्वकर्मा

---

6. वही -252/9-14
7. वही -252/16-18
8. एवमुक्तस्ततो हृष्टः स वास्तुरभवत् तदा ।
   वास्तुयज्ञः स्मृतस्तस्मात् ततः प्रभृति शान्तये।। -मत्स्य पुराण - 252/19
9. मत्स्य पुराण - 252/2-4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा मय सर्वाधिक विख्यात आचार्य हुए। इन आचार्यों द्वारा वास्तु विषयक विविध नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। मत्स्य पुराण में भी वास्तु के प्रादुर्भाव, वास्तु पुरूष, वास्तु चक्र तथा वास्तु के विविध नियमों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। 'शुभफलप्राप्ति हेतु' इन विविध वास्तु नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन करते हुए गृह, भवन, देवालय आदि का निर्माण करना चाहिए। गृह, भवन, देवालय आदि का मूलाधार 'भूमि' है। अतः निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वप्रथम चयनित भूखण्ड की मिट्टी की मात्रा, वर्ण, गन्ध आदि विविध विधियों से परीक्षा करके उसकी सामान्य एवं चर्तुवर्णानुसार शुभाशुभता का निर्धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् शुभ समय में वहाँ गृह, भवन, देवालय आदि का निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

2. भूमि परीक्षण–

गृह, भवनादि का निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व सम्बन्धित भूखण्ड के शुभाशुभ का निर्धारण करते हुए ब्राह्मणादि विभिन्न वर्णों के लिए उसकी उपयुक्तता का अध्ययन आवश्यक है ताकि उस पर गृह, भवन, राजभवन, देवालय इत्यादि निर्माण कर सम्बन्धित वर्ण का व्यक्ति लाभान्वित हो। भूमि परीक्षण की निम्न विधियों के प्रयोग से भूखण्ड के शुभाशुभ का आकलन करना चाहिए।

गड्ढे की मिट्टी पर आधारित परीक्षण विधि–

भूमि परीक्षण की इस विधि के माध्यम से सम्बन्धित भूखण्ड के शुभाशुभ का आकलन करने हेतु उपलब्ध भूखण्ड पर सर्वप्रथम एक हाथ गहरे गड्ढे की खुदायी करनी चाहिए। इस गड्ढे की खुदायी से निकाली गई मिट्टी से गड्ढे को पुनः भरने पर शेष, न्यून अथवा सम रही मिट्टी की मात्रा के आधार पर भूमि के शुभाशुभ का आकलन निम्न प्रकार से करना चाहिए।[10]

क्रम संख्या	मिट्टी की मात्रा	शुभाशुभ प्रभाव
1	मिट्टी के शेष रहने पर	श्री प्रदायक
2	मिट्टी के न्यून रहने पर	हानि प्रदायक
3	मिट्टी के सम रहने पर	सम प्रभाव

भूमि पर बीजांकुरण आधारित परीक्षण विधि–

भूमि परीक्षण की इस विधि के अन्तर्गत सम्बन्धित भूखण्ड को जुतवाकर उसमें सभी

10. वही - 253/16-17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रकार के बीज बोने चाहिएँ तथा बीजों के अंकुरण की अवधि की जानकारी लेनी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी में बीजों के अंकुरित होने का समय भी भिन्न-भिन्न होता है। अंकुरण की न्यूनतम अवधि तीन रात तथा अधिकतम अवधि सात रात अनुमानित होती है। इसी अवधि को आधार मानकर चयनित भूखण्ड के शुभाशुभ फल को इंगित किया जाता है। अंकुरण अवधि के आधार पर शुभाशुभ फल तथा अन्ततः भूखण्ड की श्रेष्ठता का आकलन निम्न प्रकार से परिभाषित किया जाता है।[11]

क्रम	अंकुरण अवधि	शुभाशुभ प्रभाव
1	3 रात	उत्तम
2	5 रात	मध्यम
3	7 रात	कनिष्ठ

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित विधियों से भूखण्ड की सामान्य परीक्षा द्वारा भूमि के शुभाशुभ का निर्धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् मिट्टी के रंग तथा रस एवं अधिकतम काल तक जलने वाली बत्ती की लौ की दिशा आधारित विविध विधियों की सहायता से ब्राह्मणादि विभिन्न वर्णों के हितार्थ भूखण्ड की उपयुक्तता का आकलन करके विभिन्न वर्णों के लिए भूखण्ड के शुभाशुभ का विचार करना चाहिए। इसके पश्चात् ही भूखण्ड पर निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

रंग एवं रस पर आधारित परीक्षण विधि–

इस विधि के अन्तर्गत भूमि की मिट्टी के रंग तथा रस के आधार पर ब्राह्मणादि विभिन्न वर्णों के हितार्थ भूमि की उपयुक्तता का निर्धारण किया जाता है। प्रथमतः भूमि के रंग का निर्धारण करना चाहिए। भूमि सामान्यतः श्वेत, लाल, पीली एवं काली, इन चार वर्णों वाली होती हैं। श्वेत, लाल, पीली एवं काली इन चार वर्णों वाली भूमि क्रमशः ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के लिए प्रशंसित मानी गयी है। इसके अतिरिक्त भूखण्ड की मिट्टी के रस अर्थात स्वाद का भी आकलन करना चाहिए। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिए क्रमशः मधुर, कड़वी, तिक्त तथा कसैले रस वाली भूमि उत्तम कही गई है।[12]

---

11. वही - 253/17-18
12. वही - 253/11-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रम	वर्ण	मिट्टी का रंग	मिट्टी का रस
1.	ब्राह्मण	श्वेत	मधुर
2.	क्षत्रिय	लाल	कड़वा
3.	वैश्य	पीली	तिक्त
4.	शुद्र	काली	कसैला

दीप प्रज्जवलन द्वारा परीक्षण विधि

ब्राह्मणादि विभिन्न वर्णों के लिए भूमि की उपयुक्तता एवं शुभता निर्धारित करने की इस विधि के अन्तर्गत चहूँ ओर से भली-भांति स्वच्छ की गई तत् सम्बन्धी भूमि पर एक गड्ढे का निर्माण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक चार बत्तियों वाले वास्तुदीप में चार बत्तियाँ लगाकर उन्हे विशुद्ध घी से भर दें। इस गड्ढे में घी भरे इस चार बत्तियों वाले वास्तुदीप को जला कर रख दें। इन चारों बत्तियों की लौ क्रमशः चारों दिशाओं की ओर होनी चाहिए। बत्तियों के जलने के समय के आधार पर ब्राह्मणादि वर्णानुसार शुभाशुभ भूमि का चयन मत्स्य पुराण में निम्न प्रकार से निर्देशित किया गया है।[13]

क्रम	अधिकतम काल तक जलने वाली बत्ती की लौ की दिशा	वर्णानुसार शुभ
1	पूर्व	ब्राह्मण
2	उत्तर	क्षत्रिय
3	पश्चिम	वैश्य
4	दक्षिण	शुद्र
5	सभी दिशाओं में समान	सभी वर्णों के लिए शुभ

इस प्रकार विभिन्न विधियों से भूखण्ड की सामान्य शुभाशुभता एवं वर्णानुसार उपयुक्तता का आकलन करने के पश्चात् ही शुभ काल में गृह, राजभवनादि का निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए जिसके लिए सर्वप्रथम वास्तु-चक्र का निर्माण आवश्यक है।

---

13. वही - 253/13-16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3. वास्तुचक्र का निर्माण

भूमि परीक्षण के उपरान्त पञ्चगव्य और औषधियों के जल से भूमि को सींच कर सुवर्ण की सलाई द्वारा रेखा खींचकर वास्तुचक्र का निर्माण करना चाहिए। सामान्यतः '9 x 9' से इक्यासी कोष्ठक का वास्तु-चक्र निर्मित किया जाता है। इन कोष्ठकों का प्रयोग वास्तुपयोगी कार्यों में विद्वान वास्तुशास्त्री द्वारा किया जाता है। इन कोष्ठकों में स्थित 45 देवताओं की हविष्य द्वारा पूजा की जाती है, जिनमें शिखी, पर्जन्य आदि 32 देवताओं की पूजा बाहर से तथा आप, सावित्र आदि 13 देवताओं की पूजा भीतर से की जाती है। यह वास्तु चक्र पितृवर्गीय वैश्वानर के आधीन माना गया है। देवताओं के पदों पर मनुष्य द्वारा कीलें गाड़ना, जूँठन फेंकना तथा चोटें पहुँचाना वर्जित है। वास्तु का अधिक अथवा हीन अंग होना तथा शल्यसहित होना भी त्याज्य है। इस प्रकार वास्तु दोषों का परित्याग करना चाहिए।[14] भूमि परीक्षण तथा वास्तु चक्र का निर्माण किए जाने के उपरान्त शुभ समय एवं मुहूर्त में गृह, राजभवन, देवालय, प्रासाद आदि के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

4. काल निर्धारण

जीवन में 'काल' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। धन-धान्य, सुख-समृद्धि, सौभाग्य आदि की प्राप्ति हेतु गृह, भवनादि का निर्माण कार्य 'शुभ समय' में ही प्रारम्भ करना चाहिए। मत्स्य पुराण में विभिन्न मास, वार, नक्षत्र, योग, मुहूर्त इत्यादि में गृह, भवनादि का निर्माण प्रारम्भ करने के भिन्न-भिन्न फल एवं प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

मास

मत्स्य पुराण में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने हेतु चैत्रादि द्वादश मासों में से प्रशस्त, अप्रशस्त एवं मिश्रित फलप्रदायक मास इस प्रकार बताए गए हैं:

प्रशस्त मास– वैशाख, आषाढ, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष तथा फाल्गुन मास गृह निर्माण हेतु उपयुक्त मास हैं। इन मासों में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर मनुष्य को क्रमशः धेनु एवं रत्न; सेवक, रत्न एवं पशु समूह; भृत्य लाभ; धन-धान्य; श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ तथा सुवर्ण एवं बहुपुत्र आदि शुभ फल प्राप्त होते हैं।

---

14. मत्स्य पुराण - 253/19-22, 38, 50

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अप्रशस्त मास - चैत्र, ज्येष्ठ, भाद्रपद, आश्विन तथा पौष माह गृह निर्माण हेतु उपयुक्त मास नहीं हैं। इन मासों में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। इन मासों में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ होने पर मनुष्य को क्रमशः व्याधि, मृत्यु, हानि, स्त्रीनाश तथा चोर का भय आदि अशुभ फलों की प्राप्ति होती है।

मिश्रित फलप्रदायक मास - माघ मास में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर मिश्रित फल प्राप्ति का वर्णन मत्स्य पुराण में उपलब्ध है। इस मास में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर यद्यपि अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं तथापि अग्नि का भय भी रहता है।[15]

वार

मास के साथ-साथ सप्ताह के शुभाशुभ वारों का आकलन भी गृह निर्माण कार्य हेतु आवश्यक है। प्रशस्त एवं अप्रशस्त 'वार' वर्गीकरण इस प्रकार है:

प्रशस्त वार - सोमवार, बुधवार, गुरूवार, शुक्रवार तथा शनिवार गृह निर्माण कार्य हेतु शुभ वार हैं। इन वारों में गृह निर्माण कार्य का प्रारम्भ शुभ फलप्रदायक तथा सुख-समृद्धि, सौभाग्य एवं धन-धान्यदायक है।

अप्रशस्त वार - सुख-समृद्धि, सौभाग्य, धन-धान्य इत्यादि शुभफल प्राप्ति हेतु गृहनिर्माण कार्य का प्रारम्भ रविवार तथा मंगलवार को कदाचित नही करना चाहिए।[16]

नक्षत्र

गृह निर्माण प्रारम्भ करने हेतु अश्विनी आदि नक्षत्रों को प्रशस्त एवं अप्रशस्त नक्षत्रों में वर्गीकृत किया गया है। गृह निर्माण कार्य केवल प्रशस्त नक्षत्रों में ही प्रारम्भ करना चाहिए। नक्षत्र वर्गीकरण इस प्रकार है।

प्रशस्त नक्षत्र - अश्विनी, रोहिणी, मूल, उत्तर फाल्गुनी, उत्तर आषाढा, उत्तर भाद्रपद, मृगशिरा, स्वाती, हस्त, अनुराधा सहित दस नक्षत्र गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने हेतु शुभ माने गए हैं।[17]

---

15. वही - 253/2-5
16. आदित्यभौमवर्ज्यास्तु सर्वे वाराः शुभावहाः। - मत्स्य पुराण - 253/7
17. अश्विनी रोहिणी मूलमुत्तरात्रयमैन्दवम्।
    स्वाती हस्तोऽनुराधा च गृहारम्भे प्रशस्यते।। - मत्स्य पुराण - 253/6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अप्रशस्त नक्षत्र - भरणी, कृतिका, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्व फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, पूर्व आषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्व भाद्रपद, रेवती सहित 17 नक्षत्रों में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

योग

गृह निर्माण कार्य का प्रारम्भ प्रशस्त योग में ही करना चाहिए। अप्रशस्त योगों में गृह निर्माण कार्य का प्रारम्भ करना वर्जित है। गृह निर्माण कार्य हेतु प्रशस्त एवं अप्रशस्त योगों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

प्रशस्त योग - प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, सुकर्मा, धृति, वृद्धि, ध्रुव, हर्षण, सिद्धि, वरियान्, शिव, सिद्ध, शुभ, ब्रह्म, इन्द्र तथा वैधृति नामक 19 योगों की कालावधि गृह निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने हेतु शुभ मानी गई है।

अप्रशस्त योग - व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड, परिघ तथा वज्र सहित आठ योग गृह निर्माण कार्य हेतु अप्रशस्त माने गए हैं, इन योगों में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।[18]

ग्रह

गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करते समय शुभ लग्न, बली चन्द्र एवं सूर्य का संयोग शुभ फलकारी होता है।[19]

मुहूर्त

गृह निर्माण कार्य श्वेत, मैत्र, माहेन्द्र, गान्धव, अभिजित, रोहिण, वैराज एवं सावित्र आदि शुभ मुहूर्तों में प्रारम्भ करना चाहिए।[20]

इस प्रकार शुभ मास, वार, नक्षत्र, योग, ग्रह तथा मुहूर्त आदि से युक्त शुभ समय में भूखण्ड स्वामी को भवन निर्माण कार्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्तम्भारोपण करना चाहिए।

---

18. वर्ज्यं व्याघातशूले च व्यतीपातातिगण्डयोः
विष्कम्भगण्डपरिघवज्रयोगे न कारयेत्। - मत्स्य पुराण - 253/7-8
19. चन्द्रादित्यबलं लब्ध्वा शुभलग्नं निरीक्षयेत्। - मत्स्य पुराण - 253/9
20. मत्स्यपुराण - 253/8-9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

5. स्तम्भारोपण

मत्स्य पुराण के अनुसार गृह निर्माण कार्य में सर्वप्रथम स्तम्भारोपण करना चाहिए।[21] स्तम्भ की मोटाई गृह की ऊँचाई के मान को सात से गुणा कर उसके अस्सीवें भाग के समान होनी चाहिए एवं उस मोटाई में नौ से गुणा कर अस्सीवें भाग के समान खम्बे का मूल भाग रखना चाहिए। स्तम्भ कोणीय अथवा वृत्ताकार हो सकते हैं तथा इसी के अनुरूप इनकी संज्ञाएँ हैं। कोणों की संख्या के आधार ये स्तम्भ क्रमशः रूचक (चतुष्कोणीय), वज्र (अष्टकोणीय), द्विवज्र (षोडश-कोणीय) तथा प्रतीनक (द्वात्रिंश-कोणीय) तथा मध्य-भाग-प्रदेश में वृत्ताकार स्वरूप वाले स्तम्भ वृत कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के स्तम्भ सभी प्रकार के वास्तु कार्य में प्रशंसनीय कहे गए हैं एवं इन्हें पद्म, वल्ली, लता, कुम्भ, पत्र एवं दर्पण से चित्रित रहना चाहिए।[22] स्तम्भारोपण कार्य के अन्तर्गत निम्न सावधानियों का विचार करना भी आवश्यक है।[23]

(i) गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने के दिन सर्वप्रथम वेदज्ञ पुरोहित श्वेत वस्त्र धारण कर कारीगर के साथ दैवज्ञ के निर्देशानुसार शुभ मुहूर्त में सभी बीजों से युक्त आधार शिला को रत्न के ऊपर स्थापित करें।

(ii) चार ब्राह्मणों द्वारा पूजित स्तम्भ को स्वच्छ कर अक्षत, वस्त्र, अलंकार और सर्वौषधि से पूजित कर मन्त्रोच्चारण, वाद्य और मांगलिक गीत आदि के साथ स्थापित कर दें। तत्पश्चात् अन्य स्तम्भों की स्थापना प्रदक्षिणा क्रम में करें, अन्यथा भय उत्पन्न होता है। स्तम्भ उपद्रवों का विनाश करनेवाली रक्षा विधि भी यत्नपूर्वक सम्पन्न करनी चाहिए। स्तम्भों के ऊपर फलों से युक्त वृक्ष की शाखा रखनी चाहिए। स्तम्भ उत्तर या पूर्व की ओर ढालान होना चाहिए। स्तम्भ की दिशा अस्पष्ट नहीं होनी चाहिए अन्यथा कुलनाशक संयोग होता है। यह तथ्य भवन, निवासगृह तथा द्वार निर्माण के समय भी ध्यान रखना चाहिए।

(iii) **'वास्तोष्पते प्रतिजानीहि'** आदि मन्त्र के द्वारा मधु और घी से हवन करना चाहिए।

(iv) ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराना चाहिए।

(v) ईशान कोण में सूत्रपात तथा अग्नि कोण में स्तम्भारोपण करना चाहिए।

(vi) वास्तु के पदचिन्हों का निर्माण कर उनकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

---

21. स्तम्भोच्छ्रायादि कर्तव्यमन्यत्तु परिवर्जयेत्। - मत्स्य पुराण - 253/10
22. मत्स्य पुराण - 255/1-4
23. वही- 256/5-9, 11.14, 25.28

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(vii) वास्तु-विभागों में दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा और अंगूठे से मूँगा, रत्न और सुवर्ण के चूर्ण से मिश्रित जल द्वारा पद चिन्ह बनाना चाहिए।

(viii) राख, अंगार, काष्ठ, नख, शस्त्र, चर्म, सींग, हड्डी, कपाल इत्यादि वस्तुओं से वास्तु चिन्ह का निर्माण नहीं करना चाहिए। ये दुःख, शोक और भय उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार स्तम्भारोपण के समय की ये कुछ विशेष सावधानियाँ हैं जिनका ध्यान कर ही स्तम्भ स्थापना करनी चाहिए। स्तम्भारोपण से भवन निर्माण कार्य मूल रूप से प्रारम्भ हो जाता है। इसके पश्चात् शुभ समय में भवन निर्माण कार्य हेतु निर्माण-सामग्री का प्रबन्ध करना चाहिए। इसमें काष्ठ एक अति प्रमुख एवं उपयोगी सामग्री है। अतः निर्माता को चाहिए की उपयुक्त एवं आवश्यक काष्ठ का प्रबन्ध शुभ समय में करे।

6. काष्ठ प्रबन्ध

गृह निर्माण कार्य में मूल भवन निर्माण कार्य के साथ-साथ काष्ठ कार्य का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। अतः काष्ठ कार्य हेतु काष्ठ के चुनाव, काष्ठ लाने की विधि तथा समय, काष्ठ कटवाते समय मिलने वाले चिन्हों इत्यादि पर भी ध्यान देना आवश्यक है, जिनका विवेचन मत्स्य पुराण[24] के अनुसार अधोलिखित है।

(i) काष्ठ लाने हेतु धनिष्ठा आदि पाँच नक्षत्रों तथा भद्रा का त्याग कर किसी शुभ दिन का चुनाव करना चाहिए।

(ii) यदि काष्ठ वन से लाना है तो सर्वप्रथम ग्रहण किए जाने वाले वृक्ष की बलिपूजा करनी चाहिए।

(iii) वन में वृक्ष की कटाई के समय पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर गिरने वाले वृक्ष का काष्ठ गृहनिर्माण हेतु मंगलकारी होता है तथा दक्षिण की ओर गिरा हुआ काष्ठ अशुभ होता है।

(iv) सामान्यतः एक भवन में एक ही प्रकार के काष्ठ का प्रयोग करना शुभ माना गया है। तीन से अधिक प्रकार के काष्ठ का प्रयोग कदाचित नहीं करना चाहिए। अनेक प्रकार के काष्ठ का प्रयोग भयकारी होता है।

(v) असना, अशोक, महुआ, सर्ज और साखु के काष्ठ मंगलकारी तथा चन्दन, कटहल, देवदारू, दारूव्दी, शीशम, श्रीपर्णी तथा तिन्दुकी के काष्ठ धनप्रद हैं।

24. वही- 257/1-15

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(vi) धनप्रदायक वृक्षों शीशम, श्रीपर्णी तथा तिन्दुकी तथा धव, कटहल, चीड़, अर्जुन और पद्म आदि वृक्षों के काष्ठ का प्रयोग किसी अन्य काष्ठ के साथ मंगलकारी नहीं होता, अतः इनका प्रयोग अकेले ही करना चाहिए।

(vii) पहले से कटे हुए वृक्ष को शुभदायी निमित्त शकुनों के साथ ग्रहण किया जा सकता है।

(viii) काष्ठ हेतु दूध वाले, काँटेदार, आम, कदम्ब, निम्ब, बहेड़ा, ढेरा आदि वृक्षों का चुनाव नहीं करना चाहिए।

(ix) पक्षियों द्वारा अधिष्ठित, वायु एवं अग्नि से पीड़ित, हाथी द्वारा ध्वस्त, बिजली गिरने से दग्ध, आधा सुखा हुआ, आंशिक रूप से टूटा हुआ, अश्वत्थ, समाधि या देवमन्दिर से निकला हुआ, नदी के संगम पर स्थित, श्मशानभूमि, तालाब आदि जलाशयों पर उगे हुए वृक्षों का काष्ठ विपुल लक्ष्मी की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए।

(x) वृक्ष की कटाई के समय मिलने वाले विभिन्न चिन्हों के भी भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं, जिनका ध्यान रखना भी अत्यावश्यक है। यथा-

क्रम	चिन्ह	भावी गृह में प्रभाव
1	पीत वर्ण	गोह भय
2	मंजीठ वर्ण	मेढक भय
3	नील वर्ण	सर्प भय
4	अरूण वर्ण	सरट भय
5	मोती सदृश श्वेत वर्ण	शुक भय
6	कपिल वर्ण	मूषक भय
7	तलवार सदृश चिन्ह	जल भय

इस प्रकार शुभ मुहूर्त में काष्ठ लाने हेतु प्रस्थान कर शुभ पूजन विधि से उस काष्ठ की बलिपूजा करनी चाहिए। तद्नन्तर ऐसी शुभ काष्ठ का प्रयोग ही भवन निर्माण हेतु करना चाहिए। भवन निर्माण सामग्री; यथा- ईंट, मिट्टी, चूना-सीमेन्ट, काष्ठ आदि की व्यवस्था के अनन्तर सर्वप्रथम भवन के 'द्वार' का निर्माण प्रारम्भ करना चाहिए।

7. द्वार

प्रत्येक भवन का एक अति महत्त्वपूर्ण भाग है-**'द्वार'**। इसलिए भवन निर्माण कार्य के समान ही द्वार निर्माण कार्य भी सावधानीपूर्वक ही किया जाना चाहिए। 'द्वार वेध' तथा 'द्वार

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वेध निराकरण' के सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए शुभफलप्रदायी द्वार की स्थापना उपयुक्त दिशा में करनी चाहिए।

द्वार निर्माण

वास्तु नियम के अनुसार सभी निवास भवनों में दाहिनी ओर प्रवेशद्वार बनाना चाहिए। मत्स्य पुराण में दिशानुसार प्रशस्त द्वारों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।[25]

क्रम	दिशा	द्वार-संज्ञा	फल
1.	पूर्व	इन्द्र तथा जयन्त	श्रेष्ठ
2.	दक्षिण	याम्य तथा वितथ	श्रेष्ठ
3.	पश्चिम	पुष्पदन्त और वरूण	प्रशस्त
4.	उत्तर	भल्लाट तथा सौम्य	शुभ

द्वार वेध

वास्तुशास्त्र में 'प्रवेशद्वार' को भवन का एक अति महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। यह द्वार किसी भी प्रकार से अवरूद्ध नहीं होना चाहिए। द्वार को होने वाले किसी भी अवरोध को वास्तुशास्त्र की भाषा में **'द्वार वेध'** की संज्ञा प्रदान की गई है। विभिन्न द्वार वेधों के विविध दुष्परिणाम मत्स्य पुराण में वर्णित हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है।[26]

क्रम	द्वार वेध	दुष्परिणाम
1	गली, सड़क या मार्ग	कुलक्षय
2	वृक्ष	द्वेषाधिक्य
3	कीचड़	शोक
4	कूप	मिरगी रोग
5	नाबदान/जलप्रवाह	व्यथा
6	कील	अग्निभय
7	देवता	विनाश
8	स्तम्भ	स्त्रीक्लेश

25. मत्स्य पुराण - 255/7-9
26. वही - 255/10-18, 21-22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

9	गृह	गृहपति का विनाश
10	अपवित्र द्रव्यादि	वन्ध्या गृहस्वामिनी
11	अन्त्यज का घर	शस्त्र भय
12	स्वयं खुलने वाले द्वार	उन्माद रोग
13	स्वयं बन्द होने वाले द्वार	कुलक्षय
14	स्वमान से ऊँचे द्वार	राजभय
15	स्वमान से नीचे द्वार	चोरभय
16	द्वार के ऊपर द्वार	यमराज का भय
17	मार्ग के मध्य स्थित अधिक (चौड़ाई का गृह)	गृहपति का विनाश
18	अन्य द्वारों से निकृष्ट मुख्य द्वार	दोषकारक
19	पश्चिम दिशा-द्वार में बरगद, उत्तर दिशा-द्वार में गूलर, पूर्व दिशा-द्वार में पीपल, दक्षिण दिशा द्वार में पाकड़ वृक्ष	अमंगलकारी
20	घर के समीप काँटे या दूधवाले वृक्ष	स्त्री हानि
21	असना का वृक्ष एवं फलदार वृक्ष	सन्तान हानि

द्वार वेध निराकरण

द्वार वेध होने पर उससे उत्पन्न दुष्परिणामों का व्यापक उल्लेख मत्स्य पुराण में प्राप्त होता हैं, किन्तु मुख्य द्वार पर कुछ विशिष्ट वृक्षों, पदार्थों, वस्तुओं आदि की स्थापना तथा पूजन आदि कार्य शुभकारी, मंगलकारी तथा कामनासिद्धिदायक होते हैं एवं ये द्वार वेध से जनित दुष्परिणामों में न्यूनता उत्पन्न करते हैं। मत्स्य पुराण में इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है।[27]

क्रम	वेध निराकरण	परिणाम
1	अ. पश्चिम दिशा द्वार में पीपल वृक्ष	शुभकारक
	ब. उत्तर दिशा द्वार में पाकड़ वृक्ष	मंगलकारी
	स. पूर्व दिशा द्वार में बरगद वृक्ष	कामनसिद्धिदायक
	द. दक्षिण दिशा द्वार में गूलर वृक्ष	शुभकारक

27. वही - 255/19-24

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

2	पुंनाग, अशोक, मौलसिरी, शमी, तिलक, चम्पा, अनार, पीपली, दाख, अर्जुन, जंबीर, सुपारी, कटहल, केतकी, मालती, कमल, चमेली, मल्लिका, नारियल, केला, पाटल वृक्षों से घर का सुशोभन	लक्ष्मी का विस्तार
3	अशुभ वृक्षों के साथ शुभ वृक्षों की प्रतिष्ठा	दोष प्रभाव की समाप्ति
4	घट, श्रीपर्णी और लताओं से मुख्यद्वार का सुशोभन	शुभकारक, मंगलकारी तथा कामनासिद्धिदायक
5	बलि, अक्षत और जल से मुख्यद्वार की नित्य पूजा	शुभकारक

8. निर्माण कार्य

स्तम्भारोपण तथा द्वार निर्माण कार्य पूर्ण करने के उपरान्त उपलब्ध भूखण्ड पर आवश्यकता एवं उपयोगिता अनुसार, वास्तु-सम्मत उपयुक्त भवन के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। भवन निर्माण की यद्यपि अनेक विधायें हैं तथापि भवन में निवास करने वाले व्यक्ति के सामाजिक, राजनैतिक एवं दैवीय स्तर के अनुसार भवन बनाने की तीन विधाएँ अधिक प्रचलित हैं - (क) जन भवन (ख) राज भवन तथा (ग) देव भवन। मत्स्य पुराण में इन तीनों प्रकार के भवनों के वास्तु-अनुरूप निर्माण, प्रकार एवं प्रभाव आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इनमें सर्वप्रथम जन भवन का विवेचन इस प्रकार है।

(I) जन भवन

जन भवन से तात्पर्य सामान्य व्यक्ति के गृह से है। गृह की आवश्यकता पशु-पक्षी, मनुष्य सभी को होती है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए गृहस्थ को एक शुभ वास्तु (गृह) की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। भविष्य पुराण में कहा भी गया है कि -

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं विना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भकर्म यात्राभिधीयते।।

अर्थात गृहस्थ की सभी क्रियायें स्वगृह में ही सिद्ध होती हैं न कि परगृह में। अतः गृह का निर्माण करना चाहिए, किन्तु गृह बनाकर भी यदि उसमें निवास करने वाले व्यक्ति सुखी न हो तो गृह निर्माण ही व्यर्थ है। इस समस्या का समाधान वास्तुशास्त्र में प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सदैव एक ऐसे घर की विवेचना करता है जिसमें निवास कर प्राणी सुख एवं प्रसन्नता का अनुभव कर सके। मत्स्य पुराण में उपदिष्ट वास्तु शास्त्र के विविध नियमों एवं सिद्धान्तों की श्रृंखला में एक सामान्य जन के लिए भी वास्तु अनुरूप निर्मित गृह की विवेचना की गई है, जिसके अन्तर्गत ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के गृहों की भिन्न-भिन्न माप एवं गृह निर्माण करते समय कुछ विचारणीय नियमों का उल्लेख किया गया है जिनके अनुपालन से एक सामान्य व्यक्ति भी अपने गृह का निर्माण कर उसमें सुखपूर्वक निवास कर सकता है। इनका विवेचन इस प्रकार है।

गृह परिमाण

वैदिक काल में समाज ब्राह्मणादि चार वर्णों में विभाजित था तथा प्रत्येक वर्ण के लिए गृह की माप भिन्न-भिन्न निर्धारित थी। वास्तु के अनुरूप चतुर्वर्णों के गृह की माप[28] का वर्णन मत्स्य पुराण में इस प्रकार निर्देशित है।

क्रम संख्या	वर्ण	चौड़ाई	लम्बाई
1	ब्राह्मण	32 हाथ	चौड़ाई से दशांश भाग अधिक
2	क्षत्रिय	28 हाथ	चौड़ाई से अष्टमांश भाग अधिक
3	वैश्य	24 हाथ	चौड़ाई से तिहाई भाग अधिक
4 अ	शुद्रःसत्	20 हाथ	चौड़ाई से चौथाई भाग अधिक
4 ब	शुद्रःअसत्	16 हाथ	चौड़ाई से चौथाई भाग अधिक
4 स	शुद्रःअन्त्यज	16 हाथ से कम	चौड़ाई से चौथाई भाग अधिक

गृह निर्माण में अन्य विचारणीय विषय

जन अर्थात् सामान्य व्यक्ति के गृह का निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ विशेष सावधानियों पर भी विचार करना आवश्यक है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।[29]

(i) देवालय, धूर्त, सचिव अथवा चौराहे के निकट गृह-भवनादि का निर्माण नहीं करना चाहिए।

(ii) भवन के चारों ओर, द्वार के सम्मुख तथा पीछे कुछ भूमि रिक्त रहनी चाहिए।

---

28. मत्स्य पुराण - 254/28-30
29. वही - 256/2-4, 28-35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(iii) भवन के पिछले भाग को दक्षिणावर्त रखना चाहिए क्योंकि वामावर्त पिछला भाग विनाशकारी माना गया है।

(iv) दक्षिण भाग से ऊँचा 'सम्पूर्ण' नामक भवन सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।

(v) विभिन्न दिशाओं के अनुरूप ही उपयुक्त स्थान का निर्माण करना चाहिए, यथा-

क्रम	दिशा	उपयुक्त स्थान
1	ईशान कोण	देवस्थान तथा शान्तिगृह
2	अग्नि कोण	रसोईघर
3	उत्तर दिशा	जलस्थान
4	नैर्ऋत्य कोण	घरेलू सामग्रियों के रखने का स्थान
5	वायव्य कोण	अन्नादि का स्थान
6	गृह से बाहर	कार्यशाला, पशुघर, स्नानागार

(vi) भवन के किसी भी भाग को पिण्ड से आगे नहीं बढ़ाना चाहिए, यदि बढ़ाना हो तो सभी दिशाओं में बढ़ाएँ, अन्यथा इसके विविध दुष्परिणाम दिशानुसार निम्न प्रकार से वहन करने पड़ते हैं।

क्रम	दिशा वृद्धि	परिणाम
1	पूर्व	वैर
2	दक्षिण	मृत्यु
3	पश्चिम	धनक्षय
4	उत्तर	दुःख एवं सन्ताप वृद्धि
5	अग्नि कोण	अग्नि-भय
6	नैर्ऋत्य कोण	शिशु विनाश
7	वायव्य कोण	वात व्याधि
8	ईशान कोण	अन्न हानि

इस प्रकार विवेचित सावधानियों एवं चतुर्वर्णों के गृहों की वास्तु अनुरूप भिन्न-भिन्न माप के आधार पर निर्मित होने वाले अलग-अलग प्रकार के जनभवनों का वर्णन मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है, जिनके अनुपालन से गृह निर्माण करना श्रेयस्कर कहा गया है। यही गृह निर्माण की

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तम एवं श्रेष्ठ विधि मानी गई है जिसके अनुरूप बनने वाला गृह गृहपति के लिए शुभफलप्रदायी एवं मंगलकारी होता है।

(II) राजभवन

मत्स्य पुराण के अन्तर्गत राजा, युवराज, सेनापति, मन्त्री, सामन्त, छोटे राजा, अमात्य, शिल्पकार, ज्योतिषी, गुरु, वैद्य, सभापति, पुरोहित आदि के भवनों का वास्तु के अनुरूप परिमाण, उनकी प्रतिकृति एवं उनके फल-प्रभाव आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है जिनका विवेचन इस प्रकार है।

भवन परिमाण

विभिन्न राजसी व्यक्तियों यथा राजा, युवराज, सेनापति, मन्त्रियों, सामन्तों, छोटे राजाओं एवं अमात्यों, ज्योतिषी, गुरु, वैद्य, सभापतियों एवं पुरोहित, शिल्पकारों, कञ्चुकियों एवं वेश्याओं तथा दूतीकर्मकर्त्ता एवं परिवार के अन्य लोगों के लिए उपयुक्त वास्तुशास्त्र सम्मत भवनों के पांच-पांच प्रकार, उनकी लम्बाई एवं चौड़ाई की माप इत्यादि का वर्णन मत्स्य पुराण में उपलब्ध है जिसके पालन से भवन निर्माण करना श्रेयस्कर कहा गया है। सम्बन्धित विवेचन इस प्रकार है।[30]

क्रम	राजकीय व्यक्ति	उत्तम भवन की चौड़ाई की माप	क्रमानुसार शेष चार भवनों की चौड़ाई की माप	लम्बाई की माप
1	राजा	108 हाथ	आठ-आठ हाथ न्यून	चौड़ाई के चतुर्थांश से अधिक
2	युवराज	80 हाथ	छह-छह हाथ न्यून	चौड़ाई से एक तिहाई अधिक
3	सेनापति	64 हाथ	छह-छह हाथ न्यून	चौड़ाई के षष्ठांश से अधिक
4	मन्त्री	60 हाथ	चार-चार हाथ न्यून	चौड़ाई के अष्ठांश से अधिक
5	सामन्त, अमात्य	48 हाथ	चार-चार हाथ न्यून	चौड़ाई से सवाया अधिक

30. वही - 254/15-27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

6	ज्योतिषी, गुरू, वैद्य, सभापति एवं पुरोहित	40 हाथ	चार-चार हाथ न्यून	चौड़ाई के षष्ठांश से अधिक
7	शिल्पकार, कञ्चुकी एवं वेश्या	28 हाथ	दो-दो हाथ न्यून	चौड़ाई से दुगुनी
8	दूत एवं अन्य परिवारजन	12 हाथ	आधा-आधा हाथ न्यून	चौड़ाई से सवाया अधिक

भवन प्रतिकृति

राजकीय भवनों में शालाओं के द्वारा राजभवन की प्रमुखतः चार प्रतिकृतियाँ बनती हैं। यथा-चतुःशाल, त्रिशाल, द्विशाल तथा एकशाल। इनका वास्तु के अनुरूप निर्माण एवं उससे जनित शुभाशुभ प्रभाव आदि का विवेचन भी मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है; यथा-

(i) चतुःशाल भवन

चारों दिशाओं में 'द्वार, बरामदा तथा शाला' से युक्त चतुःशाल भवन **सर्वतोभद्र** भवन कहलाता है। निर्माण की यह वास्तु विधि सामान्यतः देव मन्दिर तथा राजमहल के निर्माण हेतु अधिक उपयुक्त एवं मंगलकारी मानी गई है। चतुःशाल भवनों के निर्माण के निम्न चार प्रकार एवं संज्ञा कही गयी हैं।[31]

क्रम	द्वार हीनदिशा	भवन संज्ञा
1	पश्चिम	नन्द्यावर्त
2	दक्षिण	वर्धमान
3	पूर्व	स्वस्तिक
4	उत्तर	रूचक

(ii) त्रिशाल भवन

यदि किसी भवन में तीन दिशाओं में 'द्वार, बरामदे तथा शालाएँ' हों तथा एक दिशा पूर्णतः खाली हो तो भवन **त्रिशाल** श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। त्रिशाल भवनों के निर्माण के निम्न चार प्रकार एवं फल कहे गये हैं।[32]

31. वही - 254/1-4
32. वही - 254/4-8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रम	शालाविहीन दिशा	भवनसंज्ञा	फल
1	पश्चिम	पक्षघ्न	मित्र, बन्धु, पुत्रविनाशक तथा भयकारी
2	दक्षिण	विशाल	कुलक्षय एवं भय व्याधिप्रदायक
3	पूर्व	सुक्षेत्र	धन यश आयु प्रदायक एवं शोक मोह विनाशक
4	उत्तर	धान्यक	कल्याण एवं वृद्धिकारक तथा बहुपुत्रप्रदत्त

(iii) द्विशाल भवन

भवन की चारों दिशाओं के स्थान पर केवल यदि दो ही दिशाओं में शालाएँ हों तथा शेष दो दिशाएँ शालाविहीन हों तो ये **द्विशाल** भवन कहलाते हैं। इस वर्ग के भवनों के दिशानुसार रिक्त अथवा निर्मित भाग के आधार पर नामकरण तथा फल मत्स्य पुराण में इस प्रकार वर्णित हैं।[33]

क्रम	शालायुक्त दिशा	भवन-संज्ञा	फल
1	दक्षिण-पश्चिम	धन-धान्यप्रद	कल्याणवर्धक तथा पुत्रप्रद
2	उत्तर-पश्चिम	यमसूर्य	राजभय, अग्निभय तथा कुलविनाशक
3	उत्तर-पूर्व	दण्ड	अकालमृत्यु एवं शत्रुपक्ष से भयप्रदायक
4	दक्षिण-पूर्व	धन	शस्त्रभय, पराभव एवं भयप्रद
5	पूर्व-पश्चिम	चुल्ली	मृत्युसूचक, वैधव्य योग तथा अनेक भयप्रदायक
6	उत्तर-दक्षिण	काच	भयकारी

इस प्रकार राजा एवं राजकर्मचारियों के वास्तुनुरूप बनने वाले विभिन्न माप एवं प्रकार के राजभवनों का उल्लेख मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है, जिनके अनुपालन से एक शुभफलप्रदायी राजभवन का निर्माण सम्भव है, किन्तु राजभवन के निर्माण का कार्य करते समय कुछ अन्य सावधानियों पर विचार करना भी आवश्यक है, जिनका विवेचन निम्न है।

राजभवन निर्माण हेतु अन्य विचारणीय विषय

राजभवन के परिमाण तथा प्रतिकृति निर्धारण के अतिरिक्त जन भवनों के सन्दर्भ में वर्णित कुछ विशेष सावधानियों के साथ-साथ; कुछ अन्य तथ्यों पर विचार करना भी राजकीय भवनों के निर्माण की श्रेष्ठता हेतु आवश्यक हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है।[34]

---

33. वही - 254/8-13
34. वही - 254 /31-44

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(i) राजा का निवासगृह सेनापति एवं राजभवन के मध्य बनाना चाहिए।

(ii) भाण्डागार राजा के निवास के स्थान पर ही बनाना चाहिए।

(iii) राजा के पूज्य व्यक्तियों के निवासार्थ गृह सदैव सेनापति एवं चारों वर्णों के निवास गृहों के मध्य बनवाना चाहिए।

(iv) राजा तथा सेनापति के गृह के परिमाण में सत्तर का योग करके चौदह का भाग देने पर व्यास में शाला का न्यास कहा गया है।

(v) विभिन्न वर्णों एवं वनेचरों के शयनगृह पचास हाथ के बनवाने चाहिए।

(vi) ब्राह्मण की शाला छत्तीस हाथ सात अंगुल लम्बी होनी चाहिए।

(vii) क्षत्रिय की शाला ब्राह्मण की शाला से दस अंगुल अधिक होनी चाहिए।

(viii) वैश्य के लिए शाला की लम्बाई की माप पैंतीस हाथ तेरह अंगुल कही गई है।

(ix) शुद्र की शाला की लम्बाई का परिमाण पैंतीस हाथ पंद्रह अंगुल नियत है।

(x) प्रथम खण्ड की ऊँचाई का परिमाण शाला के विस्तार का सोलहवॉ भाग तथा चार हाथ होना ही श्रेयस्कर होता है। इससे ऊँचा परिमाण हानिकारक होता है।

(xi) अन्य खण्डों की ऊँचाई बारहवें भाग के समान रखनी चाहिए।

(xii) पक्की ईटों की दीवार बनाने पर गृह की चौड़ाई के सोलहवें भाग के परिमाण के समान दीवार की मोटाई होनी चाहिए। यह दीवार लकड़ी या मिट्टी की भी बनायी जा सकती हैं।

(xiii) सभी वास्तुओं में आन्तरिक मान के अनुसार ही लम्बाई एवं चौड़ाई का मान श्रेष्ठ माना गया है।

(xiv) गृह के व्यास से पचास अंगुल विस्तार तथा अठारह अंगुल वेध से युक्त द्वार की चौड़ाई तथा उससे दुगुनी ऊँचाई होनी चाहिए।

(xv) द्वार की ऊँचाई के समान ही दरवाजे में लगी हुई शाखाओं की भी ऊँचाई होनी चाहिए।

(xvi) द्वार की शाखाओं की मोटाई ऊँचाई की 'हाथ' परिमाण के समान ही 'अंगुल' परिमाण में होनी चाहिए।

(xvii) द्वार के ऊपर कलश अथवा बुर्ज तथा नीचे की देहली अथवा चौखट दोनों शाखाओं से आधे अधिक मोटे होने चाहिए।

(xviii) विभिन्न वर्णो के व्यक्तियों हेतु भवन के सामने वाली 'सोष्णीष वीथि', पीछे की ओर वाली 'श्रेयोच्छ्रय वीथि', दोनों पार्श्वों वाली 'सावष्टम्भ वीथि' तथा चारों दिशाओं वाली 'सुस्थित वीथि वास्तु मंगलदायी हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(III) देवभवन

देवभवन अर्थात देवालय निर्माण के सम्बन्ध में जन एवं राज भवन निर्माण के सभी विवेचित सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। मत्स्य पुराण में देवालय के अन्तर्गत देव प्रतिमा तथा शिवलिंग आदि का प्रमाण निरूपण, देवप्रतिमा के लक्षण, आकार, स्वरूप, वस्त्राभूषण, वाहन, मुद्रा, पीठिका भेद; लक्षण; फल, प्रतिमा प्रतिष्ठा, पूजन आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इनमें सर्वप्रथम देव प्रतिमा तथा शिवलिंग की प्रमाण विवेचना इस प्रकार है।

देव प्रतिमा

मत्स्य पुराण में कृष्ण, महावराह, नृसिंह, गणेश, सूर्य तथा भगवान विष्णु आादि विविध देवों की श्रेष्ठ प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है। शंख, चक्र, गदा तथा पद्म युक्त विशाल भुजाएँ, छत्र के समान गोल सिर, शंख सदृश ग्रीवा, सुन्दर आंखें, कुछ ऊँची नासिका, सीपी सदृश कर्ण और प्रशान्त उतार-चढ़ाव युक्त ऊरू प्रदेश, शान्त स्वरूप भगवान् विष्णु की श्रेष्ठ प्रतिमा के लक्षण हैं। भगवान् विष्णु की प्रतिमाएँ अष्टभुज, चतुर्भुज तथा द्विभुज तीनों ही रूपों में स्वीकार्य हैं, किन्तु गृहस्थ को अपने भवन में केवल द्विभुज प्रतिमा ही विद्वान पुरोहित से भक्ति-भावमय होकर विधि-विधानपूर्वक स्थापित करानी चाहिए। चतुर्भुज मूर्ति के हाथों में दाहिनी ओर क्रमशः नीचे से ऊपर गदा और पद्म तथा बायीं ओर क्रमशः नीचे से ऊपर शंख तथा चक्र रखने पर समृद्धि की प्राप्ति निश्चित कही गई है। अष्टभुज प्रतिमा के दाहिनी ओर के चार हाथों में क्रमशः नीचे से ऊपर खड्ग, गदा, बाण और पद्म तथा बायीं ओर क्रमशः नीचे से ऊपर धनुष, ढाल, शंख तथा चक्र स्थापित करना चाहिए। दोनों चरणों के मध्य में नीचे की ओर पृथ्वी की प्रतिमा और दाहिनी ओर प्रणाम करते हुए गरूड़ की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए। बायीं ओर हाथ में कमल धारण किए सुन्दर मुखमण्डल वाली विष्णुप्रिया देवी लक्ष्मी की स्थापना करनी चाहिए। कल्याणकारी पुरुष रूप गरूड़ को आगे भी स्थापित किया जा सकता है। प्रतिमा के दोनों ओर हाथ में कमल लिये श्री और पुष्टि की प्रतिमा भी बनानी चाहिए। प्रतिमा के ऊपर विद्याधरों से चित्रित गोलाकार तोरण का निर्माण करना चाहिए। देवताओं के नगाड़े बजाते हुए गन्धर्व दम्पत्ति को भी वहाँ चित्रित करना चाहिए। प्रतिमा की पीठिका का विस्तार प्रतिमा मान के तृतीयांश के समान होना चाहिए। देवता, दानव आदि की प्रतिमा नौ ताल (अंगूठे से मध्यमा अंगुली तक विस्तृत करतल भाग) परिमाण की होनी चाहिए। सामान्यतः देवप्रतिमा सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, रत्न, पत्थर, देवदारू, लोहा, सीसा, पीतल, ताँबा और काँसा मिश्रित अथवा शुभ काष्ठों की बनी हुई प्रशस्त मानी गई हैं। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार इन प्रतिमाओं को उत्तम; मध्यम अथवा

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कनिष्ठ कोटि की बनानी चाहिए। गृहस्थ को अपने भवन में अँगूठे के एक पर्व से लेकर एक 'बीते' प्रमाण मात्र की ही प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए, जबकि देवमन्दिरों में सोलह 'बीते' तक की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जा सकती है। देव-प्रतिमाओं के साथ उनसे सम्बन्धित देवियों, उनके वाहन तथा उनके गणों इत्यादि की प्रतिमाएँ भी होनी चाहिए।[35]

शिवलिंग

प्रतिमा स्थापना के अतिरिक्त भगवान शंकर के लिए बनाये जाने वाले शिवालय में शिवलिंग की स्थापना का भी अपना विशेष महत्त्व है। सामान्यतः चिकने एवं श्रेष्ठ (श्वेत) वर्ण वाले शिवलिंग; आर्थिक सामर्थ्य एवं श्रद्धानुसार रत्न, स्फटिक, मिट्टी अथवा शुभ काष्ठ से निर्मित तथा स्थापित करना शुभ और मंगलकारी माना गया है। शिवालय के परिमाण पर शिवलिंग की माप निर्भर करती है, दोनों में परस्पर सामन्जस्य होना चाहिए।[36]

शिवलिंग स्थापना हेतु सर्वप्रथम चौकोर एवं समतल गर्त में ब्रह्मसूत्र गिराना चाहिए और ब्रह्मसूत्र की बायीं ओर अर्चा या लिंग स्थापित करना चाहिए। वहाँ पूर्वोत्तर अथवा दक्षिणपूर्व में 'पूर्वद्वार' माहेन्द्रद्वार निर्मित करना चाहिए। प्रथमतः पूर्वद्वार को इक्कीस भागों में विभक्त कर मध्य भाग में ब्रह्मसूत्र की कल्पना करनी चाहिए। इसके अर्धभाग को तीन भागों में विभक्त कर उत्तर तथा दक्षिण की ओर एक एक भाग छोड़कर मध्य भाग को ब्रह्मस्थान मान कर शिवलिंग की स्थापना प्रशस्त मानी गई है। जिस लिंग के नीचे का भाग बहुत चौड़ा होता है, वह पूजनीय नही रहता। जो लिंग सिर की ओर से निम्न; मनोहर; उत्तम लक्षणसम्पन्न तथा सौम्य प्रतीत होता है, वह समृद्धि प्रदान करने वाला होता है, जबकि जो लिंग मूल तथा मध्य भाग में एक समान रहता है, वह सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला होता है। इसके विपरीत जो लिंग इन उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न होते हैं, वे असत् अर्थात् अपूजनीय लिंग कहलाते हैं।[37] इस प्रकार मत्स्य पुराण में शिवलिंग के निर्माण आदि की विधि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

देव प्रतिमा के लक्षण, परिमाण, आकार आदि की विवेचना

मत्स्य पुराण में देवताओं की प्रतिमाओं के आकार, लक्षण, मान आदि के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। सामान्यतः देवालय के आकार के अनुसार प्रतिमा अथवा लिंग का आकार निर्धारित किया गया है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रतिमा अथवा लिंग तथा देवालय

35. वही - 258/4-9, 11-16, 20-23
36. वही - 263/1-2, 25
37. वही - 263/3-7, 22-25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के आकार में सामन्जस्य होना चाहिए। इस विषय में ब्रह्मा ने बताया है कि राम, विरोचन के पुत्र बलि, वाराह तथा नृसिंह की प्रतिमाओं की ऊँचाई दस ताल होनी चाहिए। वामन की प्रतिमा सात ताल की हो तथा मत्स्य तथा कूर्म की प्रतिमाएँ जिससे वे आकर्षक प्रतीत हों, उसी परिमाण की बनानी चाहिए।[38] इसके अतिरिक्त शिव आदि की प्रतिमाएँ, यथा रूद्र, नटराज, ज्ञानयोगेश्वर प्रतिमा तथा भैरव की मूर्ति आदि के लक्षण, आकार, मान आदि का विस्तृत विवेचन भी मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है। भैरव, नृसिंह, वराह तथा अन्य भयंकर एवं भयकारी देवताओं की प्रतिमाएँ मुख्य मन्दिर में स्थापित नहीं करनी चाहिएँ बल्कि प्रत्यायतन अर्थात मुख्य मन्दिर के सामने या बरामदे में स्थापित करना शुभकारी होता है। इसी प्रकार देव प्रतिमाएँ हीनाँग अथवा अधिक अंग वाली भी नहीं होनी चाहिए। न्यून अंग तथा भयानक मुख वाली देव प्रतिमा स्वामी का विनाश करती है तथा अधिक अंग प्रतिमा शिल्पकार का हनन करती है, जबकि दुर्बल प्रतिमा धन का नाश करती है। विभिन्न प्रतिमाओं के सामान्य से भिन्न अर्थात न्यून अथवा अधिक अंग होने के दुष्परिणाम निम्न हैं।[39]

क्रम	न्यूनांग/अधिकांग स्थिति	दुष्परिणाम
1	कृश उदर	दुर्भिक्षप्रदायी
2	निर्मांस	धननाशिनी
3	वक्र नासिका	दुःखदायिनी
4	सूक्ष्मांगी	भयप्रदायी
5	चिपटी	दुःख-शोकप्रदायी
6	नेत्रहीना	नेत्र विनाशिका,
7	मुखहीना	दुःखदायिनी
8	कृश हाथ-ष्पैर अथवा अंगहीन	भ्रम उन्मादकारी
9	शुष्क मुख तथा कटिभागहीन	राजकष्ट
10	हाथ-पॉव विहीन	महामारीप्रद

38. दशतालः स्मृतो रामो बलिर्वैरोचनिस्तथा ।।
वाराहो नारसिंहश्च सप्ततालस्तु वामनः ।
मत्स्यकूर्मौ च निर्दिष्टौ यथाशोभं स्वयम्भुवा।। - मत्स्य पुराण - 259/1-2

39. मत्स्य पुराण - 259/3-21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

11	जंघा एवं घुटना विहीन	शत्रुकल्याणकारी
12	वक्षःस्थल विहीन	पुत्र, मित्र विनाशिका

इसके विपरीत सम्पूर्ण अंगों से परिपूर्ण प्रतिमा सर्वदा आयुष्यकारक एवं लक्ष्मी प्रदान करने वाली कही गई हैं।[40]

देवप्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन

मत्स्य पुराण में भगवान विष्णु तथा भगवान शिव के विविध अवतारों एवं रूपों, यथा अर्धनारीश्वर; उमामहेश्वर; शिवनारायण, महावराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य, कूर्म आदि एवं ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, भगवती, कात्यायनी, देवराज इन्द्र, सूर्य, अग्निदेव, यमराज, लोकपाल निर्ऋति, वरुण, वासुदेव, कुबेर, सामर्थ्यशाली ईशानदेव आदि महादेवों तथा मातृकाओं यथा- हंसारूढ़ मां भगवती माहेश्वरी, मयूरारूढ़ कौमारी, गरूढ़ासीन भगवती वैष्णवी, महिषारूढ़ वाराही, गजारूढ़ इन्द्राणी, गृध्र या काक पर आरूढ़ भगवती योगेश्वरी चामुण्डा, गधे पर सवार कालिका, पद्म सिंहासन पर पद्मासना लक्ष्मी, यक्षिणी इत्यादि की प्रतिमाओं के स्वरूप, लक्षण, परिमाण, आकार, वस्त्र, आभूषण, वाहन, मुद्रा तथा पूजन आदि की विधि का वर्णन विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है।[41] यथा- ब्रह्माणी की प्रतिमा ब्रह्मा जी के समान चार मुख; चार भुजाएँ; अक्षसूत्र और कमण्डलु से विभूषित तथा हंस पर आसीन बनानी चाहिए। इसके अतिरिक्त सदैव ही मातृकाओं के समीप गणेश की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए तथा मातृकाओं से आगे हाथों में वीणा और त्रिशूल धारण किए हुए वृषभारूढ़ जटाधारी भगवान् वीरेश्वर को स्थापित करना चाहिए।[42]

देव प्रतिमाओं की पीठिकाएँ

देव प्रतिमाओं को पीठिकाओं पर स्थापित किया जाता है। शुभ फल की कामना हेतु प्रतिमा तथा पीठिका का मूल पदार्थ समान होना चाहिए। सभी पीठिकाओं के सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं। यथा- पीठिका की ऊँचाई को सोलह भागों में विभक्त करते हैं तथा उनमें से एक

---

40. सम्पूर्णावयवा या तु आयुर्लक्ष्मीप्रदा सदा।। - मत्स्य पुराण - 259/21
41. मत्स्य पुराण - अध्याय-260-261
42. विनायकं च कुर्वीत मातृणामन्तिके सदा।।
वीरेश्वरश्च भगवान् वृषारूढो जटाधरः।
वीणाहस्तस्त्रिशूली च मातृणामग्रतो भवेत्।। - मत्स्य पुराण - 261/38-39

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भाग पृथ्वी में प्रविष्ट करना होता है। मत्स्य पुराण में इन भागों का विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है।[43]

क्रम	पृथ्वी के अन्दर/ऊपर की स्थिति	पीठिका संज्ञा
प्रथम	पृथ्वी के अन्दर	-
द्वितीय से पञ्चम	पृथ्वी से ऊपर	जगती
षष्ठ	पृथ्वी से ऊपर	वृत
सप्तम से नवम	पृथ्वी से ऊपर	कण्ठ
दशम	पृथ्वी से ऊपर	कण्ठपट्ट
एकादश एवं द्वादश	पृथ्वी से ऊपर	ऊर्ध्वपट्ट
शेष चार भाग	पृथ्वी से ऊपर	शेषपट्टिका

जगती-पर्यन्त एक एक भाग एक दूसरे में प्रविष्ठ रहते हैं तथा शेषपट्टिका पर्यन्त सभी का निर्गम होता है। पट्टिका में जल निकलने हेतु नाली बनाई जाती है। पीठिका के तीन भाग परिधि के बाहर रहने चाहिएँ। मूल, अग्र तथा ऊपरी भागों का विस्तार अधिक होना चाहिए। त्रिभाग में जल निकासी की सुन्दर नाली होनी चाहिए। पीठिका लिंग के आधे भाग की मोटाई के परिमाण से बनानी चाहिए। लिंग के तीन भाग के बराबर मेखला का खात बनाना चाहिए तथा उत्तर की ओर स्थित नाली प्रमाण से कुछ अधिक ही बनानी चाहिए। पत्थर, मिट्टी, काष्ठ तथा धातुमिश्रित प्रतिमा में क्रमशः पत्थर, मिट्टी, काष्ठ तथा धातुमिश्रित पीठिका ही रखनी चाहिए एवं जिस देवता की जो पत्नी हो उसे पीठ पर स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार पीठिका के ये सामान्य लक्षण मत्स्य पुराण में वर्णित हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त विविध पीठिकाओं के भेद (संज्ञा), स्वरूप तथा उनके प्रभाव का विशद् वर्णन भी मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है। इनका विवेचन इस प्रकार है।[44]

क्रम	पीठिकाभेद	स्वरूप	फल
1	स्थण्डिला	मेखलारहित चौकोर	आरोग्य
2	वापी	दो मेखलाओं से युक्त	विपुल धन धान्य

43. मत्स्य पुराण - 262/1-5, 13 16, 19-20
44. वही - 262/6-12, 16-18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3	यक्षी	तीन मेखलाओं से युक्त	गौ
4	वेदी	चार पहल की आयताकार	सम्पत्ति
5	मण्डला	मेखलाओं से युक्त गोलाकार	कीर्ति
6	पूर्णचन्द्रा	लालवर्ण की मध्य में दो मेखलाओं से युक्त	वरदान
7	वज्रा	तीन मेखलाओं से युक्त षट्कोणा	दीर्घायु
8	पद्म	पद्मपत्र समान 16 पहलोंवाली	सौभाग्य
9	अर्धचन्द्रा	धनुषाकार	पुत्र
10	त्रिकोण	श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, पूर्व तथा उत्तर की ओर ढालू त्रिशूलाकार	शत्रुनाश

देव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा

देव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हेतु शुभ अयन-उत्तर, शुभमास - फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा शुभ - तिथि शुक्लपक्ष की द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, दशमी, त्रयोदशी तथा पूर्णमासी, शुभ नक्षत्र, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, मूल, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद, ज्येष्ठा, श्रवण, रोहिणी, पूर्वाभाद्रपद, हस्त, अश्विनी, रेवती, पुष्य, मृगशिरा, अनुराधा तथा स्वाति, शुभ शकुन; शुभ योग; क्रूर ग्रहों से रहित तथा शुभ ग्रहों (बुध, बृहस्पति तथा शुक्र) से दृष्ट एवं तारा बल प्राप्त शुभ लग्न में विधि विधानपूर्वक अनुष्ठान द्वारा देवप्रतिमा एवं शिवलिंग की स्थापना मंगलकारी होती है।[45] इसके लिए कुण्ड आदि का निर्माण, प्रतिमा अधिवासन, प्रतिमा प्रतिष्ठा, अभिषेक तथा अर्घ्यादि विविध कार्य किए जाते है, इनका विवेचन निम्न है।

(i) यज्ञांगरूप कुण्डादि का निर्माण

प्रासाद की पूर्व अथवा उत्तर दिशा में सोलह; बारह अथवा दस हाथ का मण्डप बनवाना चाहिए। प्रासाद के मध्य भाग में चारों ओर से समान तथा पॉच; सात अथवा चार हाथ विस्तृत 'वेदी' का निर्माण उपयुक्त माना गया है। चतुर्मुख मण्डप के चारों ओर चार तोरण स्थापित करना उचित है। इसके पूर्व दिशा में पाकड़, दक्षिण दिशा में गूलर, पश्चिम दिशा में पीपल का

45. वही - 264/3-11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा उत्तर दिशा में बरगद का द्वार होना चाहिए जिसका एक हाथ परिमाण भूमि में प्रविष्ठ तथा चार हाथ भूमि से ऊपर होना चाहिए। मण्डप का भूतल सुन्दर, चिकना तथा भली भांति लिपा हुआ हो तथा विविध वस्त्र, पुष्प और पल्लवों से सुशोभित होना चाहिए। मण्डप के चारों द्वारों पर छिद्ररहित आठ सुवर्ण के समान कान्तियुक्त कलशों की स्थापना कर उन्हें आम के पल्लवों से आच्छादित कर, दो श्वेत वस्त्रों से युक्त, सभी औषधियों एवं फलों से सम्पन्न तथा चन्दन मिश्रित जल से परिपूर्ण कर गन्ध, धूप आदि पूजन सामग्रियों द्वारा उनके भीतर पूजन करें। मण्डप के चारों ओर ध्वज आदि की स्थापना करें। सभी दिशाओं में लोकपालों की पताकाएँ तथा मण्डप के मध्य भाग में मेघ के रंग की बहुत ऊँची पताका स्थापित कर लोकपालों के लिए प्रयोग किए जाने वाले पृथक्-पृथक् मन्त्रों द्वारा ही गन्ध धूपादि से लोकपालों की पूजा कर बलि प्रदान करने का मंगलकारी कार्य करें। ब्रह्मा जी के लिए ऊपर तथा वासुकि के लिए नीचे पूजा का विधान है। तत्पश्चात् एक, तीन, पाँच अथवा सात रात तक उनका अधिवासन करना चाहिए। प्रतिमा अथवा लिंग को लाकर शिल्पियों तथा उनके अनुचरों की वस्त्र, आभूषण और रत्नों द्वारा पूजा करते हुए अपने अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना करनी चाहिए। इसके पश्चात् देवता को बिछोने पर लिटाकर मन्त्र द्वारा उनकी नेत्रज्योति सम्पादित करनी चाहिए। इस प्रकार देवेश को आमन्त्रित कर सुवर्ण शलाका से चिन्हित करते हुए अपनी समृद्धि तथा अमंगल के विनाश हेतु मांगलिक वाद्य गीत और ब्राह्मणों की वेदध्वनियों का समारोह करना चाहिए।[46]

(ii) देवप्रतिमा का अधिवासन

मत्स्य पुराण में वर्णित है कि सर्वप्रथम देव प्रतिमा अथवा लिंग को मांगलिक वाद्य तथा गीतों एवं शब्दों के प्रयोग के साथ मण्डप के स्नानकक्ष में लाकर स्नान कराएँ। पञ्चगव्य, कषाय, मृत्तिका, भस्म, जल से वेदोच्चारण करते हुए प्रतिमा का मार्जन करें। स्नान के पश्चात् सुगन्धित द्रव्य चन्दनादि से पूजा करे और दो वस्त्रों से ढँककर शयन कराये। तत्पश्चात् मन्त्रोच्चारण के साथ प्रतिमा/लिंग को उठवाकर मन्त्रोच्चारण करवाते हुए शिल्पियों द्वारा रथ अथवा ब्रह्मरथ पर रखवाकर ले आयें तथा मन्त्रोच्चारण के साथ मन्दिर में प्रवेश कराएँ एवं शय्या पर कुश तथा पुष्पों को बिछाकर पूर्वाभिमुख कर धीरे से स्थापित कर उसके सिरहाने वस्त्र और सुवर्णसहित निद्राकलश मन्त्र जाप करते हुए स्थापित करें। रेशमी वस्त्र द्वारा नेत्रों को ढककर तकिया दे अथवा रेशमी वस्त्र को प्रतिमा के सिर के नीचे रख दें। फिर मधु और घृत द्वारा स्नान कराकर पीली सरसों से मन्त्रसहित पूजा करें तथा चारों ओर से चन्दन तथा पुष्पादि से देवता की पूजा

46. वही - 264/13-25, 27-28, 33-34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

करे। श्वेत वर्ण के सूत का कंगन अर्पित करें, चित्र-विचित्र रेशमी अथवा सूती वस्त्रों द्वारा प्रतिमा को भलीभाँति ढककर आस-पास में छत्र, चामर, दर्पण आदि सामग्रियाँ रखे और पुष्पादि से युक्त चँदोवा स्थापित करे। वहीं विविध प्रकार से रत्न, औषध, अन्य घरेलू वस्तुएँ, विचित्र प्रकार के पात्र, शय्या, आसन आदि सामग्रियाँ अपनी आर्थिक शक्ति के अनुरूप मन्त्रोच्चारण करते हुए रखें। दूध, मधु, घृत, तथा खट्टा; मीठा; तीखा; कड़वा; नमकीन तथा कसैला इत्यादि छहों प्रकार के रसों से युक्त भक्ष्य एवं भोज्य अन्न और खीर को भी चारों ओर रखकर पूजा करें तथा मन्त्रोच्चारण के साथ प्रचूर परिमाण में प्रयत्नपूर्वक भूतल पर सभी ओर से घी से बलि दें। यजमान सभी दिशाओं में देवप्रतिमा रक्षकों की नियुक्ति करें। देवप्रतिमा के सिरहाने की ओर स्थापक को व्याहृतिपूर्वक शान्तिक तथा पौष्टिक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए हवन करना चाहिए। शान्ति के लिए सावधानचित्त हो लोकपालों, मूर्तियों तथा मूर्तियों के अधिदेवताओं के लिए क्रम से हवन करना चाहिए। प्रत्येक कुण्ड पर सदा शान्तिघट की स्थापना करनी चाहिए एवं सौ अथवा सहस्र आहुति के पश्चात् सम्पूर्णाहुति देनी चाहिए। यजमान द्वारा पुनः दक्षिणा प्रदान करनी चाहिए। सामान्य जीवों के लिए सभी दिशाओं में तीन सन्ध्याओं के समय बलि, पहले ब्राह्मणों को भोजन, फिर अन्य वर्णों को स्वेच्छानुसार भोजन कराना चाहिए तथा रात्रि में नृत्यादि मंगल कार्यों द्वारा महोत्सव मनाना चाहिए। इस प्रकार देव प्रतिमा का यह अधिवासोत्सव सर्वदा सम्पूर्ण यज्ञों के फलों को प्रदान करने वाला होता है।[47]

(iii) देवप्रतिमा की प्रतिष्ठा

मत्स्य पुराण के अन्तर्गत विवेचित है कि लिंग (प्रतिमा) स्थापन के पूर्व पुष्पमिश्रित जल से मन्दिर को धोकर मन्त्रोच्चारण करते हुए पक्षसूत्र तथा द्वारसूत्र को गिराकर नापना चाहिए। देवतागण ईशानकोण में अवस्थित भगवान शंकर की पूजा करते हैं, इसलिए देवमण्डप की मध्यभूमि निश्चित कर देवप्रतिमा स्थापना हेतु स्थान ईशानकोण की ओर बढ़ा देना चाहिए।[48] उत्तर दिशा में अधिष्ठित देवता आयु तथा आरोग्यदायक एवं कल्याणकारी कहे गए हैं, जबकि अन्य दिशाओं में स्थापना अशुभकारी कही गई है।[49] लिंग की स्थापना हेतु ऐसी कूर्म-शिला की स्थापना करनी चाहिए जो की ब्रह्मशिला की अपेक्षा बड़ी तथा भारी हो। उसके ऊपर ब्रह्मभाग से बड़ी ब्रह्मशिला तथा पुनः उसके ऊपर पिठिका की स्थापना करनी चाहिए। तदुपरान्त

47. वही - 265/7-8, 10-23, 30, 37, 43-44, 47, 50-52

48. वही - 266/2-3

49 आयुरारोग्यफलदमथोत्तरसमाश्रितम्।
शुभं स्यादशुभं प्रोक्तमन्यथा स्थापनं बुधैः ।। - मत्स्यपुराण - 266/4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्त्रोच्चारण के साथ देवप्रतिमा को उठाकर मण्डप के मध्य में लाकर पुनः पीठिका पर स्थापित कर अर्घ्य, पाद्य और मधुपक्र आदि समर्पित करना चाहिए। एक मुहूर्त विश्राम कर मूल्यवान रत्न, बीज, अनाज, धातु, औषधियाँ इत्यादि अन्यान्य पदार्थों की पूर्व दिशा में स्थापना करनी चाहिए। प्रत्येक लोकपाल का क्रम से मन्त्रों द्वारा न्यास करना चाहिए। दिशास्वामियों की सम्बन्धित पदार्थों के निवेदन के साथ मन्त्रों द्वारा पूजा का प्रावधान भी मत्स्यपुराण में वर्णित है। तद्नन्तर देवी देवताओं का विधि विधानपूर्वक अभिवादन, ध्यान एवं पूजा करके विभिन्न महादेवों की वेदमन्त्रोंचारपूर्वक प्रतिष्ठा करनी चाहिए। देवालय का प्रधान देवता वह होता है जिन की प्रतिमा स्थापित की जाती है। अन्य स्थापनीय देवताओं को उनका परिकररूप मानना चाहिए। प्रतिष्ठा सम्बन्धी कार्यों में सभी मन्त्रों का बारं बार जप करके चार बार जल से प्रतिमा के मूलभाग, मध्यभाग तथा शिरोभाग में स्पर्श करें । देवप्रतिमा स्थापना के पश्चात् प्रतिष्ठा कराने वाले आचार्य की वस्त्र, अलंकार एवं आभूषणों से भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिए तथा दीन दुःखी व्यक्तियों को भी उपयुक्त रूप से सन्तुष्ट करना चाहिए। तत्पश्चात् प्रथम दिन से प्रारम्भ कर आगे के दिनों में प्रतिमा पर क्रमशः मधु, हल्दी तथा सरसों, चन्दन और जौ, मैनसिल तथा प्रियंग, काला अंजन और तिल, घृतसहित चन्दन एवं पद्मकेसर, रोचना; अगरू तथा पुष्प इत्यादि अर्पित करने चाहिए। अवस्थित प्रतिमा को अपने स्थान से विचलित नहीं करना चाहिए। छिद्रों को बालू से भर देना चाहिए। स्थापना के अनन्तर देवप्रतिमा जिस दिशा में स्वयं झुक जाए उस दिशा के लोकपाल के लिए शान्ति कराकर दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए, अन्यथा कुलविनाशक भयंकर भय उत्पन्न होता है। प्रतिमा को अचल कर, अन्न तथा वस्त्र का दान करते हुए पुण्याहवाचन, जय-जयकार एवं मांगलिक शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। यह महोत्सव तीन, पॉच, सात अथवा दस दिनों तक होना चाहिए। प्रतिमा प्रतिष्ठा के चौथे दिन महास्नान तथा चतुर्थीकर्म कर भक्ति भावपूर्वक पर्याप्त दक्षिणा प्रदान करनी चाहिए।[50]

(iv) प्रतिष्ठित देवप्रतिमा की अभिषेक विधि

मत्स्य पुराण में देव प्रतिमा के अभिषेक तथा अर्घ्य की उत्तम विधि का अति सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। दधि, अक्षत, कुश का अग्रभाग, दुग्ध, दूर्वा, मधु, यव और सरसों तथा फलों के मिश्रण से 'अर्घ' तथा गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दही तथा घृत को जल सहित मिश्रित कर कुश द्वारा चलाकर पञ्चगव्य 'निर्मित' होते हैं। पञ्चगव्य द्वारा प्रतिमा को स्नान कराने के उपरान्त शुद्ध दही द्वारा अभिषेक संस्कार करना चाहिए। पुनः दूध, घृत, मधु, पुष्पमिश्रित जल, औषधियों से प्रतिमा

50. मत्स्य पुराण - 266/5-69

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

को अभिमन्त्रित करना चाहिए। पुनः रत्नमिश्रित जल, कुशोदक द्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान कराएँ। तत्पश्चात् गायत्रीमन्त्रोच्चारण के साथ सुगन्धित जल से अभिमन्त्रित करें एवं वित्तीय स्थिति के अनुरूप यथाशक्ति उपयुक्त स्तर के निम्नतम चार कलशों से प्रतिमा की स्नान क्रिया सम्पन्न करें। महास्नान के समय सहदेई, वच, व्याघ्री आदि महौषधियों; जौ, गेहूँ आदि स्नान कार्य में उपयोगी हैं। गोबर और शुद्ध मिट्टी से स्वस्तिक, पद्म, शंख, उत्पल, कमल, श्रीवत्स, दर्पण और नन्द्यावर्त इत्यादि आठ चित्रों की कलापूर्ण रचना कर उन्हें पॉच प्रकार के रंग, पॉच प्रकार के चूर्ण, दूर्वा और काले तिल से भर कर नीराजन की विधि से नीराजन कर गंगाजल से मन्त्रसहित आचमन कर देव को परम रमणीय युगल वस्त्र समर्पित कर हाथ में कुश लेकर कपूर और केसरमिश्रित चन्दन का लेप करें। मन्त्रोच्चारण सहित चालीस दीप, धूपदान, आभूषण अर्पित कर प्रदक्षिणा करें। सात रात तक महोत्सव कर श्वेत वस्त्रधारी यजमान पञ्चरत्नयुक्त तथा श्वेत वस्त्रों से परिवेष्ठित चार, आठ, दो अथवा एक देवकुम्भ के जल से मन्त्रों सहित अभिषेक करें। स्वयं स्नान कर देवपूजन के पश्चात् प्रतिमा प्रतिष्ठा कराने वाले की वस्त्राभूषणों द्वारा पूजा करें तथा मण्डप में उपलब्ध दातव्य वस्तुएँ आचार्य को दें, क्योंकि गुरू के प्रसन्न होने पर सभी देवगण प्रसन्न हो जाते हैं। इस देव प्रतिमा के स्थापन कार्य को सदा श्रुतियों के पारगामी एवं गृहस्थाश्रम में रहने वाले ब्राह्मण द्वारा ही कराना उचित है। वैदिक ब्राह्मणों द्वारा करायी गयी स्थापना से देव प्रतिमा कुल में कल्याणकारी होती है एवं चिरकाल तक लोग उसकी पूजा करते हैं।[51]

(IV) प्रासाद

मेरू, मन्दर, कैलास, कुम्भ, सिंह, मृग, विमान, छन्दक, चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्त्र, वर्तुल, सर्वभद्रक, सिंहास्य, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंस, वृष, सुवर्णेश, पद्मक और समुद्गक आदि प्रासादों के भेद हैं। मेरू आदि सात प्रासाद ज्येष्ठ लिंग के लिए शुभदायक, श्रीवृक्षक आदि आठ मध्यम लिंग के लिए शुभदायक तथा हंस आदि पॉच कनिष्ठ लिंग के लिए शुभकारी माने गए हैं। सामान्यतया सभी प्रासादों के निर्माण हेतु कुछ लक्षण सामान्य हैं, जिनका पालन प्रत्येक प्रासाद निर्माता को करना चाहिए। वास्तुविद् को वास्तु को सोलह भागों में विभक्त कर उसके मध्य भाग के चार भागों को केन्द्र मानकर मध्य भाग की ओर शेष बारह भागों में प्रासाद निर्माण की व्यवस्था करनी चाहिए तथा चारों दिशाओं में बाहर निकलने का मार्ग भी जानना चाहिए। दीवार की ऊँचाई वास्तुमान की चौथाई के तुल्य होनी चाहिए और दीवार की ऊँचाई के प्रमाण से दुगुनी शिखर की ऊँचाई होनी चाहिए। शिखर की ऊँचाई के चौथाई मान से प्रदक्षिणा बनानी चाहिए।

51. वही - 267/2-33, 35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मण्डप के अग्रभाग का विस्तार गर्भ के मान से दुगुना होना चाहिए तथा इसकी लम्बाई तीन भागों से युक्त, भद्रयुक्त तथा सुन्दर होनी चाहिए। गर्भमान को पॉच भागों में विभक्त कर एक भाग में प्राग्ग्रीव की योजना बनानी चाहिए एवं गर्भसूत्र के समान आगे मुखमण्डप की रचना करनी चाहिए। इस प्रकार यह सामान्यतया सभी प्रासादों का वास्तु के अनुरूप लक्षण है, जिसका पालन सदैव प्रासाद निर्माता को करना चाहिए।[52] इन प्रासादों के अनुरूप मण्डप, मण्डप द्वार तथा द्वार वेध; प्रासाद निर्माण में शुभ एवं मंगलकारी वृक्ष, प्रासाद की विभिन्न दिशाओं में स्थित निवास आदि का व्यापक वर्णन मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है। इनमें सर्वप्रथम प्रासादनुरूप मण्डपों का विवेचन निम्न है।

प्रासाद-संलग्न मण्डप

पुष्पक, पुष्पभद्र, सुव्रत, अमृतनन्दन, कौसल्य, बुद्धिसंकीर्ण, गजभद्र, जयावह, श्रीवत्स, विजय, वास्तुकीर्ति, श्रुतिंजय, यज्ञभद्र, विशाल, सुश्लिष्ट, शत्रुमर्दन, भागपञ्च, नन्दन, मानव, मानभद्रक, सुग्रीव, हरित, कर्णिकार, शतर्धिक, सिंह, श्यामभद्र तथा सुभद्र ये सत्ताईस प्रकार के मण्डप कहे गये हैं। ये मण्डप चौंसठ स्तम्भों से प्रारम्भ होकर क्रमशः दो दो के क्रम से न्यून होते हैं, परिणामतः पुष्पक में चौंसठ तथा सुभद्र में बारह स्तम्भ रह जाते हैं। इन मण्डपों की स्थापना त्रिकोण, गोलाकार, अर्धचन्द्राकार, अष्टकोण, दशकोण अथवा चतुष्कोण रूप में करनी चाहिए, जिनसे क्रमशः राज्य, विजय, आयु, पुत्र लाभ, लक्ष्मी और पुष्टि इत्यादि मंगलकारी फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये मण्डप मंगलदायक तथा इनसे विपरीत निर्मित मण्डप अमंगलदायक होते हैं। मण्डप द्वार तीन, पॉच, सात अथवा नौ शाखाओं से युक्त बनने पर क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ कहलाते हैं। दस निम्न विभिन्न माप के द्वारा स्वीकृत तथा शुभफलदायक हैं - एक सौ नब्बे अंगुल, एक सौ अस्सी अंगुल, एक सौ साढ़े चालीस अंगुल, एक सौ तीस अंगुल, एक सौ बीस अंगुल, एक सौ सौलह अंगुल, एक सौ दस अंगुल तथा अस्सी अंगुल। ये द्वार धनप्रद एवं उत्तम होते हैं तथा ये वायु के आवागमन हेतु उपयुक्त माने गए हैं किन्तु शेष द्वार वर्जित हैं, क्योंकि इनसे चित्त उद्विग्न होता है। सभी वास्तुओं में प्रयत्नपूर्वक द्वार-वेध से बचना चाहिये। विविध द्वार वेधों एवं उनसे जनित दुष्परिणामों का विवेचन निम्न है।[53]

---

52. वही - 269/1-7, 28-30, 53-54,
53. वही - 270/3-17, 21-28

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रम	द्वार-वेध	दुष्परिणाम
1	वृक्ष	क्षय
2	कोण	दुर्गति
3	भ्रमि	प्रवास
4	द्वार	क्षुधा भय
5	स्तम्भ	दुर्भाग्य
6	कूप	बन्धन
7	ध्वज	रोग
8	दीवार	दरिद्रता
9	गड्ढा	कलह, विरोध, धनहानि

प्रासाद हेतु शुभ वृक्ष

प्रासाद की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं में क्रमशः फलदार, दुग्ध वाले, विविध कमलों से सुशोभित जल तथा चीड़ और ताड़ के वृक्षों का रोपण शुभ एवं मंगलकारी माना गया है।[54]

क्रम	दिशा	वृक्ष
1	पूर्व	फलदार वृक्ष
2	दक्षिण	दूध वाले वृक्ष
3	पश्चिम	विविध भाँति के कमलों से सुशोभित जल
4	उत्तर	चीड़ और ताड़ के वृक्षों से युक्त पुष्पवाटिका

प्रासाद संलग्न मण्डप की विभिन्न दिशाओं में स्थित निवास

कुण्ड और मण्डप से युक्त प्रासाद का निर्माण करते हुए मुख्य भवन के विभिन्न भागों में विभिन्न वर्गों का उपयुक्त निवास क्रम मत्स्य पुराण में इस प्रकार निर्देशित है।

क्रम	मुख्य भवनानुसार दिशा	निवास
1	दोनों पार्श्व	परिवार वर्ग
2	दक्षिण	तपोवन अथवा तपस्थल
3	उत्तर	मातृभवन

54. वही - 270/28-29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

4	अग्निकोण	पाकशाला
5	नैर्ऋत्यकोण	गणेश निवास
6	पश्चिम	लक्ष्मी निवास
7	वायव्यकोण	गृहमालिका
8	उत्तर	यज्ञशाला और निर्माल्य स्थान
9	पश्चिम	चन्द्रादि देव हेतु बलिस्थल
10	पूर्व	वृषभ स्थान
11	ईशानकोण	जलयुक्त बावली तथा जलशायी विष्णुभगवान् का स्थान

इस प्रकार जो व्यक्ति कुण्ड एवं मण्डप युक्त; घण्टा, वितान, तोरण तथा चित्रों से सुशोभित, नित्य महोत्सव से प्रमुदित जनसमूह के साथ विविध ध्वजाओं से विभूषित वास्तु अनुरूप देव मन्दिर बनवाता है, उसका लक्ष्मी कभी त्याग नहीं करती और स्वर्ग में भी उसकी पूजा होती है।[55]

9. वास्तु शान्ति

मत्स्य पुराण में वर्णित है कि जीर्ण प्रासाद के उद्धार, वाटिका के आरोपण, नूतन गृह प्रवेश, नूतन प्रासाद अथवा भवन निर्माण, प्रासाद परिवर्तन, प्रासाद तथा गृहों में द्वार की रचना इत्यादि अवसरों पर विद्वान् पुरूष सर्वप्रथम बलिकर्म तथा समिधाओं द्वारा **वास्तु की शान्ति पूजा** अवश्य करे। इसके लिए वास्तु के मध्य भाग में पृष्ठ प्रदेश पर इक्यासी पदों वाला चक्र बनाना चाहिए। तद्नन्तर तीन मेखलाओं से युक्त एक हाथ गहरे तथा चौड़े कुण्ड में जौ, काले तिल तथा वट, पाकड़, पीपल, गूलर आदि दुग्धयुत वृक्षों की समिधाओं द्वारा हवन करना चाहिए। हवन में मधु और घृत से संयुक्त पलाश या खदिर की समिधाओं या मधु, घृत कुश और दूर्वा अथवा पॉच बिल्व फल या बिल्व बीजों का उपयोग करना चाहिए। हवन के अन्त में विविध भक्ष्य सामग्रियों द्वारा वास्तुप्रदेश में क्रम से बलि तथा विशेष नैवेद्य भी देना चाहिए। ईशानकोण में घृत से संयुक्त नैवेद्य अग्नि के लिए समर्पित करना चाहिए[56] तथा वास्तु के बाह्य एवं आन्तरिक भाग के अधिदेवों तथा राक्षसियों की विभिन्न दिशाओं की बलि एवं उनका विशेष प्रकार के नैवेद्य से निम्न प्रकार से पूजन करना चाहिए।[57]

55. वही - 270/30-35
56. वही - 268/3-9
57. वही - 268/ 10-30

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रम	अधिदेव	बलि तथा विशेष नैवेद्य
1	पर्जन्य	फल घृत युक्त ओदन
2	जय	पीली ध्वजा तथा आटे का बना हुआ कूर्म
3	इन्द्र	पञ्चरत्न तथा आटे का बना हुआ वज्र
4	सूर्य	धूम्रवर्ण का वितान और सत्तू
5	सत्य	घी और गेहूँ
6	भृश	अन्न
7	अन्तरिक्ष	पूड़ी
8	वायु	सत्तू
9	पूषा	लावा
10	वितथ	चना और ओदन
11	बृहत्क्षत्र	मधु और अन्न
12	यम	फल का गूदा और ओदन
13	गन्धर्व	सुगन्ध और ओदन
14	भृंगराज	भृंगिका
15	मृग	जौ का सत्तू
16	पितरों	खिचड़ी
17	दौवारिक	दन्तकाष्ठ तथा आटे की कृष्णबलि
18	सुग्रीव	पूआ
19	पुष्पदन्त	खीर
20	वरूण	कुश समूह से संयुक्त पद्म और सुवर्णमय पिष्टक
21	असुर	मदिरा
22	शेष	घृत युक्त ओदन
23	पापयक्ष्मा	जौ का अन्न
24	रोग	घी का लड्डू
25	नाग	पुष्प और फल
26	मुख्य वासुकि	घी
27	भल्लाट	मूँग और ओदन
28	सोम	घृत और खीर

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

29	भग	साठी के चावल का पिष्टक
30	अदिति	पोलिक
31	दिति	पूरी
32	यम	दूध
33	आपवत्स	दही
34	सावित्री	लडडू
35	मरीच	कुशमिश्रित ओदन
36	सविता	गुड मिश्रित पूआ
37	जय	घृत और चन्दन
38	विवस्वान्	लाल चन्दन और खीर
39	इन्द्र	घृतसहित हरितालयुक्त ओदन
40	मित्र	घृतमिश्रित ओदन
41	रूद्र	घृत और खीर
42	राजयक्ष्मा	पके हुए तथा कच्चे फल का गूदा
43	पृथ्वीधर	मांसखण्ड और कुम्हड़े
44	अर्यमा	शक्कर और खीर, पञ्चगव्य, जौ, तिल, अक्षत तथा चरू
45	ब्रह्मा	विविध भक्ष्य और भोज्य पदार्थ
46	चरकी नाम्नी राक्षसी	ईशानकोण की ओर फल का गूदायुक्त ओदन, घृत, पद्मकेसर
47	विदारी नाम्नी राक्षसी	अग्निकोण की ओर फल का गूदामिश्रित ओदन तथा हरिद्रायुक्त ओदन
48	राक्षससहित पूतना नाम्नी राक्षसी	नैर्ऋत्यकोण की ओर दही, ओदन, हड्डियों के टुकड़े तथा पीले और लाल रंग की बलि
49	पाप नाम्नी राक्षसी	वायव्यकोण की ओर खीर

इस प्रकार यजमान को बलि देते समय क्रमशः सभी जगह आदि में प्रणव और अन्त में नमस्कार सहित स्वनाम का उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् उपस्थित ब्राह्मणगणों के लिए भक्ति भावपूर्वक स्वर्ण का तथा ब्रह्मास्थानीय ब्राह्मणों को दूध देने वाली गौ का दान कर अन्ततः सर्वौषधि से युक्त जल से स्नान करना चाहिए। इस प्रकार भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक की गई वास्तु

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शान्ति की विधि से पूजित देवगण तथा राक्षसगण एवं ब्राह्मणगण प्रसन्न होकर सर्वदा शान्ति प्रदान करते हैं।

10. गृहप्रवेश

गृह निर्माण कार्य पूर्ण होने पर उसमें मांगलिक शान्ति हेतु श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आगे कर उन्हें दही, अक्षत, आम के पल्लव, पुष्प तथा फलादि से सुशोभित जलपूर्ण कलश देकर तथा अन्य ब्राह्मणों को सुवर्ण, गौ, आभूषण, पृथ्वी, अन्न और वस्त्र श्रद्धा एवं भक्ति भावपूर्वक प्रदान कर गृहपति को गृहप्रवेश करना चाहिए। तत्पश्चात् गृहसूत्रों में प्रासाद एवं वास्तु की शान्ति हेतु वर्णित विधि के अनुसार हवन एवं बलि कर्म करना चाहिए।[58] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि प्रासाद, भवन, उद्यान के प्रारम्भ अथवा उनके उद्यापन के समय तथा पुर अथवा **गृह प्रवेश** के समय सभी दोषों के विनाशार्थ रक्षोघ्न और पावमान सूक्तों के पाठ कराने के बाद नृत्य, मांगलिक गीत एवं वाद्यों के साथ ब्राह्मणों द्वारा वेदपाठ कराना चाहिए। तत्पश्चात् भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों द्वारा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट कर श्वेत वस्त्र धारण कर धूपादि द्रव्यों के साथ भवन में प्रवेश करना चाहिए।[59] इस प्रकार जो जातक प्रतिवर्ष 'गृह' अथवा मन्दिर के कार्य में उपर्युक्त वास्तु विधि का पालन करता है, वह दुःख का भागी नहीं होता। उसे न तो व्याधि का भय होता है, न उसके बन्धुजनों तथा सम्पत्ति का विनाश ही होता है, प्रत्युत वह इस लोक में सौ वर्ष तक जीवित रहता है और स्वर्ग में एक कल्पपर्यन्त निवास करता है।[60]

स्पष्ट है कि वेद, पुराण, संहिता इत्यादि मानव जीवन के हितार्थ संचयित विशद् कोश हैं, जो मनुष्य के सुख, कल्याण एवं मांगल्य आदि शुभ फलों की प्राप्ति का दिशा निर्देश करते हैं। पौराणिक ग्रन्थों में मत्स्य पुराण एक पावन, पवित्र, पापनाशक, आयुप्रदायक, कीर्तिवर्धक,

---

58. कृत्वाग्रतो द्विजवरानथ पूर्णकुम्भं दध्यक्षताम्रदलपुष्पफलोपशोभम् ।
दत्त्वा हिरण्यवसनानि तदा द्विजेभ्यो मांगल्यशान्तिनिलयाय गृहं विशेत्तु।।
गृह्योक्तहोमविधिना बलिकर्म कुर्यात् प्रासादवास्तुशमने च विधिर्य उक्तः।
-मत्स्य पुराण - 257/22-23

59. मत्स्य पुराण - 257/23, 268/33-34

60. अनेन विधिना यस्तु प्रतिसंवत्सरं बुधः ।
गृहे वायतने कुर्यान्न स दुःखमवाप्नुयात् ।।
न च व्याधिभयं तस्य न च बन्धुधनक्षयः ।
जीवेद् वर्षशतं स्वर्गे कल्पमेकं च तिष्ठति।।
-मत्स्य पुराण - 268/35-36

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कल्याणकारी एवं मंगलकारी पुराण है जिसमें वर्णित विविध नियमों एवं उपनियमों के अनुपालन से मनुष्य को शुभ एवं उत्तम फलों की प्राप्ति सुनिश्चित होती है तथा पापों का विनाश होता है। वास्तु विद्या का कथन मत्स्य पुराण में विवेचित अन्यान्य विषयों में से एक है जिसके अन्तर्गत सर्वसाधारण, राजपुरूषों तथा देवी देवताओं के निवासार्थ गृह, भवन, राजभवन, देवालय आदि के निर्माण के विभिन्न नियमों एवं सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें वास्तु विद्या के मूल सिद्धान्त, स्थान का चुनाव तथा निर्माण आदि की रूपरेखा, देवमूर्ति एवं शिवलिंग का निर्माण; प्रतिष्ठा एवं स्थापना इत्यादि के साथ मन्दिर एवं राजप्रासादों की रचना प्रमुख है। इन नियमों के पालन से मनुष्य उपयुक्त एवं शुभ समय में वास्तु अनुरूप संबन्धित भवनादि का निर्माण कर सर्वविध सुख समृद्धि एवं शान्ति प्राप्त कर सुचारू एवं सुखी रूप से अपना जीवन निर्वाह कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रासाद विन्यास

–श्री रामेश्वर दयाल शर्मा

स्थापत्य के पौराणिक ग्रन्थों में प्रासाद का विस्तृत वर्णन मिलता है। वास्तु शास्त्र में वैदिककाल से ही गुप्तकालीन, मुगलकालीन, एवं वर्तमान कालिक हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मन्दिरों में शिखर, स्तम्भ, वेदी एवं द्वार निर्माण का शास्त्रोक्त सिद्धान्त प्रतिपादित है। चाहें मन्दिर का शिखर, मस्जिद की गुम्बद, गुरुद्वारे का शिखर तथा गिरिजाघर की मीनार हो ये सभी वास्तुशास्त्र की ही देन है जो हमें विरासत के रूप में उपलब्ध है।

प्रासादलक्षण का प्रयोजन–

शिल्पशास्त्र की वैदिक परम्परा में निष्णात् मनीषियों के निर्देशानुसार धर्म यश एवं मुमुक्षु को देने वाले उद्यान एवं सरोवर के निर्माण के अनन्तर देव प्रासाद की स्थापना करना ही देवतुल्य कार्य है। जैसे की बृहत्संहिता में वर्णित है–

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये।।[1]

विश्व के स्रष्टा देवाधिदेव देवालय या प्रासाद में ही आसीन होते है अतः देव प्रासाद का निर्माण एक पवित्र धर्म है। मन्दिर को ही वैदिक भाषा में हिरण्यगर्भ रूप में स्वीकार किया गया है। यही देवालय का गर्भगृह भी है।

देवालय के मुख्यद्वार–

प्रासाद का मुख पूर्व, पश्चिम और नगर के सम्मुखं सर्वश्रेष्ठ है। उत्तर एवं दक्षिण मुखी देवालय अशुभ फल प्रदान करते है। सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र का पृष्ठ भाग पुर (नगर) की ओर होना विनाशकारी है। जैसा कि वास्तु रत्नावली मे कहा है–

पूर्वापरस्याः पुरसन्मुखाश्च देवाः शुभा नोत्तरदक्षिणास्याः।
भङ्गं पुरस्यापि पराङ्मुखास्ते कुर्वन्ति धातार्क जनार्दनेशाः।।[2]

---

1. बृ. सं. प्रासादलक्षण श्लो. 1, पृ. सं. 380
2. वास्तुरत्नावली अ.–9, पृ. सं.– 150

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ब्रह्मादि देवो के मन्दिर के द्वार का विचार-

पूर्व एवं पश्चिम दिशा में मुख्य रूप से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, सूर्य और कुमार कार्तिकेय के मन्दिर का मुख सर्वोत्तम माना गया है। ब्रह्मा, रूद्र, विष्णु और जिन के देवालय का मुख्यद्वार सभी दिशाओं में श्रेयष्कर है। ग्रह, चामुण्डा (देवी), षोडशमातृका, कुबेर, कार्तिकेय, और भैरव का मुख्य द्वार दक्षिण दिशा को सुशोभित करने वाला सर्वश्रेष्ठ है। हनुमान जी का मुख नैऋत्य में शुभफलप्रद है। वास्तु रत्नावली में भी ऐसा ही लिखा गया हैं-

ब्रह्माविष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्वापरास्याः शुभाः
प्रोक्तौ सर्वककुम्भमुखौ शिवजिनौ विष्णुर्विधाता तथा।
चामुण्डा ग्रहमातारो धनपतिर्द्वैमातुरो भैरवो
देवा दक्षिणदिङ्मुखाः कपिवरो नैऋत्यवक्त्रो भवेत्।।[1]

देवालय सर्वश्रेष्ठ धार्मिक वास्तु की एक कल्पना है जिसे हम भारतीय शिल्पशास्त्र की अनन्य विभूति कहें तो भी एक अत्युक्ति नही होगी।[2]

मन्दिर वास्तु का विकास-

वैदिक वाङ्मय मे भी प्रासाद की विस्तृत चर्चा मिलती है। वहां देवालय जैसे किसी स्थापत्य के लिए सम्भवतः कोई स्थान उपलब्ध नही था। वैदिक साहित्य में यज्ञ-वेदी निर्माण सर्वोपरि है। शतपथ ब्राह्मण में निर्देशित है कि 'यज्ञशाला दशों दिशाओं में चटाई रूपी जाल से ढँकी रहती थी। उसे मात्र मुख्यद्वार के लिए पूर्व दिशा में खुला रखा जाता था।[3]

तैत्तिरीय संहिता में इसे 'गर्भगृह' नाम से नामित किया गया है।[4] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र यज्ञ मण्डप को बाहरी ओर से पृथक् करता था।[5] उपर्युक्त वर्णन से यह प्रतिपादित होता है कि यज्ञभवनों का स्वरूप वर्तमान-कालीन झोंपड़ियों का पर्याय ही था। अतः प्रस्तुत गद्य से यह स्पष्ट है कि यज्ञशाला के इसी स्वरूप ने मन्दिर-वास्तु को जन्म दिया। प्रासाद, देवालय, देवायतन, देवगृह, देवस्थान, देवकुल आदि अनेक शब्द महाभारत, रामायण, ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थों की देन है। यज्ञों में प्रयुक्त व्यक्ति विशेष देवताओं की तरह मान्य थे, अतः कह सकते हैं कि वैदिक काल में वास्तु का विचार निश्चित रूप में किया जाता था।[6]

---

1. वही अ.-9, पृ. सं.- 150
2. भारतीय वा. कला. अ.-7 पृ. सं. 59
3. शतपथ ब्राह्मण 3/1/22
4. तैत्तिरीय संहिता 6/2/55
5. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र- 10/5/1
6. ऋग्वेद- 4/3/13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवालय में वास्तु पुरुष का लक्षण और द्वार विभाग-

देवालय में ६४ पद वास्तु नर का विचार करना चाहिए। इसके सभी दिशाओं में मध्य में द्वार निर्माण शुभ कहा गया है। यथा-

चतुः षष्टिपदं कार्यं देवतायतनं सदा।
द्वारं च मध्यमं तस्मिन् समदिक्स्थं प्रशस्यते।।[1]

मन्दिर में विचारणीय तथ्य-

देव प्रासाद में आय, व्यय, अंश तथा नक्षत्रादि चार बिन्दुओं पर चर्चा करनी चाहिए। इसी तरह से योनि, गण, राशि, वर्ण, वश्य, तारा, वर्ग और राशिपति इत्यादि नव अङ्गो का विचार भी अवश्य करे। प्रासादमण्डनम् ग्रन्थ में भी वर्णित है जैसा कि-

देवातानाम् गृहे चिन्त्य-मायाद्यङ्गचतुष्ट्यम्।
नवाङ्गं नाडीवेधादि - स्थापकामरयोर्मिथः।।

आयादि चिन्तनं भूमिलक्षणं वास्तुमण्डलम्।
मासनक्षत्रलग्नादि-चिन्तनं पूर्वशास्त्रतः।।[2]

प्रासाद में गर्भगृह का मान-

सर्वप्रथम प्रासाद की भूमि को समचौरस करके उसे दस भागो मे विभक्त करें। उसमे प्रासाद की दीवार के लिए दो-दो भाग दोनो तरफ से और शेष छह भागों में विभाजित कर गर्भगृह का निर्माण दैवज्ञ के निर्देश से करें। जैसा की प्रासादमण्डन में उद्धृत किया गया है-

चतुरस्त्री कृते क्षेत्रे दशभागविभाजिते।
द्वि द्वि भागेन द्वौ भिती षड्भागं गर्भ मन्दिरम्।।[3]

शिखर निर्माण-

शिखर के अधो भाग के कोने का विस्तार दस भागों में करें एवं ऊपरी स्कन्ध को छह भागों में विस्तृत करें। छह से अधिक स्कन्ध वाला शिखर अशुभ होता है एवं पांच भाग से न्यून शिखर सुशोभित नही होता है। यथा-

---

1. बृहद्वास्तुमाला प्रासाद ल. श्लो. -3 पृ. सं. - 162
2. प्रासादमण्डन अ.-1, श्लो.- 21-22, पृ. सं.- 42
3. वही अ.-4, श्लो.- 3, पृ. सं.- 122
4. वही अ.-4, श्लो.- 12, पृ. सं.- 126

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रेखामूले च दिग्भागं कुर्यादग्रे षडंशकम्।
षडबाह्ये दोषदं प्रोक्तं पञ्चमध्ये न शोभनम्।।[4]

शिखर-विधान-

रेखामूलस्य विस्तारात् पद्मकोशं समालिखेत्।
चतुर्गुणेन सूत्रेन सपादः शिखरोदयः।।[1]

मूलरेखा का विस्तार करके कमल की पंखुड़ी जैसा पद्मकोश का निर्माण होता है अर्थात् इसमें चार गुणा सूत्र के द्वारा मूल बिन्दू में दो गोल बनावें। शिखर को दोनों कोनों के विस्तृत क्रम में सवाया बनावें।

प्रासाद में मर्म वेध-

चारो वर्णो, भूपालो एवं सुरपति के निवास स्थान में एकाशीतपद वास्तु विभक्त है। अर्थात् उनमे प्रासाद एवं मण्डपों की संख्याऐं असंख्य है। उन प्रासादों व मण्डपों मे शतपद-वास्तु ही सर्वश्रेष्ठ होती है। जैसे की वास्तुसारसङ्ग्रह में लिखा है-

वर्णिनां भवनादीनि निवेशा राजवेश्मनाम्।
एकाशीतिपदेनेन्द्रस्थानं च विभजेत्सुधीः।।

प्रासादा विविधास्तद्वद् विचित्राश्चात्र मण्डपाः।
तान् मापयेच्छतपदप्रविभागेन बुद्धिमान्।।[2]

प्रासाद योग्य भूमि-

वर्ण व्यवस्था के आधार पर ब्राह्मणादि वर्णो के गृह-निर्माण में जिस भूमि को उपयुक्त एवं शुभफलप्रद माना गया है, देवस्थान हेतु भी वैसी ही भूमि सर्वश्रेष्ठ एवं हितकर है यथा बृहत्संहिता में कहा है-

भूमयो ब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तु कर्मणि।
ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि।।[3]

प्रासादों का विधान-

जितना विस्तृत मन्दिर हो उससे दोगुनी ऊँचाई और उस ऊँचाई से तीन गुना कटि स्थान होता है। मन्दिर का प्रारम्भिक भाग सीढी के ऊपर जहाँ से हो वहीं कटि स्थान कहलाता है। विस्तृत

1. प्रासादमणन अ.-4, श्लो.-23, पृ. सं.-133
2. वास्तुसारसग्रह सोपानम्-20, श्लो.42-43, पृ. सं.-187
3. बृ. सं. प्रासादलक्षण श्लो.-9, पृ. सं. 382

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भाग के अर्द्ध स्थान में गर्भगृह से शेष दीवार (भीत) का निर्माण होता है। गर्भ के चतुर्थ भाग के समान द्वार विन्यास और द्विगुणित विस्तार के समान द्वार की ऊँचाई होती है। मुख की ऊँचाई तुल्य शाखा (चौखट का बाजू) और उदुम्बर चौखट के ऊपर की लकड़ी की चौडाई, तथा शाखा के चतुर्थ भाग का भी चतुर्थ के सदृश शाखाओं की मोटाई वर्णित है। शाखाओं की चौड़ाई के मध्य में 3, 5, 7 या 9 शाखायें द्वार की महत्ता को अंकित करती है। शाखाओं के तीन चौथाई भागों में हंस आदि शुभ पक्षी, बेल, स्वस्तिक चिह्न, कलश, युगल, पत्ते और लताओं से अंकित करें। ये सभी प्रासादों के प्रमाण है। जैसा कि बृहत्संहिता में उल्लिखित है-

यो विस्तारो भवेद्यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छायाद्यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता॥

विस्तारार्धं भवेद्गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः।
गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम्॥

उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्वदुदुम्बरः।
विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्॥

त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते।
अद्यः शाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत्॥[1]

प्रासादों के नाम-

अब मेरु आदि बीस प्रासादों का विस्तृत वर्णन करते है-

मेरु, मंदर, कैलाश, विमानच्छंद, नन्द, समुद्र, पद्म, गरुड, नन्दिवर्धन, कुंजर, गुहराज, वृष, हंस, सर्वतोभद्र, घट, सिंह, वृत्त, चतुष्कोण, षोडशाश्रि और अष्टाश्रि आदि। मेरू आदि क्रम से इनके लक्षण बृहत्ससंहिता में वर्णित है-

मेरुमन्दरकैलासविमानच्छन्दनन्दनाः।

समुद्र पद्मगरुडनन्दिवर्धनकुञ्जराः।

गृहराजो वृषो हंसः सर्वतोभद्रको घटः।
सिंहो वृत्तश्चतुष्कोणः षोडशाष्टाश्रयस्तथा॥

इत्येते विंशतिः प्रोक्ताः प्रासादाः सञ्ज्ञया मया।
यथोक्तानुक्रमेणैव लक्षणानि वदाम्यतः॥[2]

1. बृ. सं. प्रासादलक्षण श्लो.-11-14, पृ. सं.- 382
2. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 17-19, पृ. सं.-383

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मेरु-प्रासाद का लक्षण-

सर्वप्रथम मेरु-प्रासाद में छह कोण, बारह भूमि, विभिन्न प्रकार की खिडकियाँ, पूर्वादि चार दिशाओं में चार द्वार एवं बत्तीस हाथ के विस्तृत होता है। जैसा कि बृहत्संहिता में लिखा है-

तत्र षडश्रिर्मेरूर्द्वादशभौमो विचित्रकुहरश्च।
द्वारैर्युतश्चतुर्भिर्द्वात्रिंशद्धस्तविस्तीर्णः।।[1]

मंदर एवं कैलाश प्रासाद लक्षण-

छह कोण, तीस हाथ विस्तृत दश-भूमि वाला और शिखरों से युक्त मन्दर प्रासाद होता है। कैलाश नामक प्रासाद शिखरों वाला, अट्ठाईस हाथ विस्तार वाला, आठ भूमि और छह कोण वाला होता है। जैसा कि बृहत्संहिता में वर्णित है-

त्रिंशद्धस्तायामो दशभौमो मन्दरः शिखरयुक्तः।
कैलासोऽपि शिखरवानष्टाविंशोऽष्टभौमश्च।।[2]

विमान एवं नन्दन प्रासाद लक्षण-

जालीदार खिडकियों वाला एवं छः कोण युक्त, इक्कीस हाथ विस्तार वाला विमान प्रासाद है। छै कोण, छै भूमि, बत्तीस हाथ और सोलह शिखरो का नन्दन नामक प्रासाद है। बृहत्संहिता में जैसा कि वर्णित है-

जालगवाक्षकयुक्तो विमान सञ्ज्ञस्त्रिसप्तकायामः।
नन्दन इति षड्भौमो द्वात्रिंशः षोडशाण्डयुतः।।[3]

समुद्र और पद्म-प्रासाद लक्षण-

पद्म नामक प्रासाद कमल की आकृति एवं समुद्र-प्रासाद गोल होता है। दोनो ही एक श्रृङ्ग एवं एक ही भूमि वाले है। बृहत्संहिता में भी वर्णित है कि-

वृत्तः समुद्रनामा पद्मः पद्माकृतिः शया अष्टौ।
श्रृङ्गेणैकेन भवेदेकैव च भूमिका तस्य।।[4]

गरुड एवं नन्दिवर्धन प्रासाद लक्षण-

ये दोनो ही प्रासाद गरुड की आकृति के होते हैं पान्तु नन्दिवर्धन प्रासाद, पंख तथा पूँछ

1. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 20, पृ. सं.-383
2. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 21, पृ. सं.-384
3. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 22, पृ. सं.-384
4. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 23, पृ. सं.-384

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से विहीन होता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों प्रासाद चौबीस हाथ विस्तृत, सात भूमि एवं चौबीस शिखरों से विभूषित होते हैं। जैसा कि बृहत्संहिता में कहा है-

गरुडाकृतिश्च गरुडो नन्दीति च षट्चतुष्कविस्तीर्णः।
कार्यस्तु सप्तभौमो विभूषितोऽण्डैस्तु विंशत्या।।[1]

कुञ्जर एवं गुहराज प्रासाद लक्षण-

हाथी का पर्याय ही कुञ्जर है। अतः यह प्रासाद हाथी की पीठ के सदृश आकृति युक्त, सोलह हाथ विस्तृति वाला तथा गुहराज प्रासाद गुह जैसी आकृति वाला, सोलह हाथ विस्तृत होता है। ये दोनों ही प्रासाद बल की दृष्टि से तीन चन्द्रशालाओं वाले है। यही बृहत्संहिता में उल्लिखित है-

कुञ्जर इति गजपृष्ठः षोडशहस्तः समन्ततो मूलात्।
गुहराजः षोडशकस्त्रिचन्द्रशाला भवेद्वलभी।।[2]

वृष, हंस एवं घट प्रासादों लक्षण-

वृष-प्रासाद एक भूमि, एक शृङ्ग वाला बारह हाथ विस्तार वाला और चारों तरफ से वृत्ताकार होता है। हंस प्रसाद हंस पक्षी की आकृती वाला 12 हाथ विस्तार एवं एक भूमि और एक शृंग वाला होता है। इसी प्रकार घट-प्रासाद भी घडे (कलश) की आकृति वाला आठ हाथ विस्तार वाला एक श्रृङ्ग और एक भूमि वाला होता है जैसा बृहत्संहिता मे लिखा है कि -

वृष एकभूमिश्रृङ्गो द्वादशहस्तः समन्ततो वृत्तः।
हंसो हंसाकारो घटोऽष्टहस्तः कलशरूपः।।[3]

सर्वतोभद्र-प्रासाद लक्षण-

सर्वतोभद्र-प्रासाद के चारो दिशाओं में चार द्वार, अनेक शिखरों से विभूषित, विविध सुन्दर चन्द्रशालाओं से अलंकृत् छब्बीस हाथ तुल्य विस्तृत, चार कोण एवं पांच भूमियों वाला होता है। जैसा बृहत्संहिता मे कहा है कि-

द्वारैर्युतश्चतुर्भिर्बहुशिखरो भवति सर्वतोभद्रः।
बहुरुचिरचन्द्रशालः षड्विंशः पञ्चभौमश्च।।[4]

---

1. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 24, पृ. सं.-384
2. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 25, पृ. सं.-384
3. बृ. सं. प्रासादलक्षण. श्लो. 26, पृ. सं.-385
4. बृ. सं. प्रासादलक्षण श्लो.-27, पृ. सं.- 385

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सिंह आदि पाँच प्रासादों के लक्षण-

सिंह-प्रासाद सिंह सदृश, बारह कोणों वाला, आठ हाथ विस्तार वाला होता है। शेष चार प्रासाद अर्थात् वृत्त, चतुष्कोण, षोडशाश्रि और अष्टाश्रि अपने नामों के अनुरूप आकार वाले एवं कृष्ण वर्ण के अर्थात् ये अन्धकार युक्त होते हैं। इसका सुन्दर चित्रण बृहत्संहिता में इस प्रकार मिलता है-

सिंहः सिंहाक्रान्तो द्वादशकोणोऽष्टहस्तविस्तीर्णः।
चत्वारोऽञ्जनरूपाः पञ्चाण्डयुतस्तु चतुरस्त्रः॥[1]

भूमि-प्रमाण-

मयासुर के मतानुसार एक भूमि का प्रमाण एक सौ आठ अङ्गुल तथा विश्वकर्मा के अनुसार भूमि-प्रमाण साढ़े तीन हाथ है। जैसे-

भूमिकाङ्गुलमानेन मयस्याष्टोत्तरं शतम्।
सार्द्धं हस्तत्रयं चैव कथितं विश्वकर्मणा॥[2]

विभिन्न ज्योतिर्विदों एवं वास्तुविदों के द्वारा प्रासाद-विन्यास अपने-2 विवेक के अनुसार भिन्न-भिन्न माना गया है जो विविध वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थो में वर्णित है।

---

1. वही प्रासादलक्षण श्लो.-28, पृ. सं.- 385
2. वही प्रासादलक्षण श्लो.-29, पृ. सं.- 386

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

महाकालेश्वर मन्दिर की वास्तुकला

–श्री रमण कुमार

आकाशे तारका लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम्।
मृत्युलोके महाकालं त्रयलिङ्गं नमोस्तुते।।

महाकालेश्वर मंदिर शिव के द्वादश-ज्योतिर्लिङ्ग में एक है।[1] यह मध्यप्रदेश राज्य के उज्जैन नगर में क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित हैं। यहाँ पर मौर्य एवं गुप्त राजवंशों के राज्यपाल रहा करते थे।[2] योगिनीतन्त्र[3] में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उज्जयिनी का उल्लेख पातंजलि के महाभाष्यों[4] में भी प्राप्त होता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उज्जयिनी के क्षेत्र का वर्णन किया है। पुराणों, महाभारत और कालिदास जैसे महाकवियों की रचनाओं में इस मंदिर का विशिष्ट स्थान है। स्वयंभू, भव्य एवं दक्षिणाभिमुख लिङ्ग होने के कारण महाकालेश्वर की ख्याति विश्वप्रसिद्ध है। ऐसी मान्यता है कि महाकाल के दर्शन मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तथा व्यक्ति की अकाल मृत्यु टल जाती है। महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' में उज्जयिनी की चर्चा करते हुए इस मंदिर की प्रशंसा की है। महाभारत में वनपर्व[5] में महाकाल तीर्थ का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। गरुड़पुराण[6] में कहा गया है कि महाकाल तीर्थ समग्र पापों का नाश करने वाला तथा मुक्ति देने वाला है। अग्निपुराण[7] के अनुसार यह सर्वोत्तम तीर्थ है। स्कन्दपुराण[8] में इसके माहात्म्य का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार पुराणों एवं अन्यान ग्रंथों में इस ज्योतिर्लिङ्ग की प्रमाणिकता के कई साक्ष्य उपलब्ध हैं। ऐसी मान्यता है कि महाकालेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग का दर्शन करने से स्वप्न में भी किसी प्रकार का दुःख

---

1. शिवपुराण; कोटिरुद्रसंहिता, श्लोक 21–24
2. रैप्सन ई० जे० : एंशियन्ट इण्डिया, पृ० 175
3. योगिनीतन्त्र, 2, 2, 199
4. पातंजलि कृत महाभाष्य, 3, 1, 2, पृ० 67–68
5. महाभारत वनपर्व-अ. 82
6. गरुड़पुराण (पूर्वाध) अ. 66
7. अग्निपुराण अ. 108
8. महाकालं नमस्कृत्य नरो मृत्युं न सोचयेत्।
   मृतः कीटः पतंगो रूवा रुद्रस्यातुचरो भवेत्।। स्कन्दपुराण-26/19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवं संकट नहीं आता तथा उनकी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं और वह परलोक में भी मोक्ष को प्राप्त करता है।[9]

शिवपुराण[10] में महाकाल की कथा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि समस्त देहधारियों को मोक्ष प्रदान करने वाली एक प्रसिद्ध और अत्यन्त रमणीय अवन्ति नाम की नगरी है जो भगवान शिव की अत्यन्त ही प्रिय है। इसी नगरी में एक धर्मात्मा ब्राह्मण वास करता था। वे अपने घर में अग्नि की स्थापना कर प्रतिदिन वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहते थे। हमेशा उत्तम ज्ञान को प्राप्त करने में तत्पर उस ब्राह्मणदेवता का नाम 'वेदप्रिय' था। वेदप्रिय स्वयं ही शिव के अनन्य भक्त थे। शिव की अनन्य भक्ति के फलस्वरूप ही उनके चार पुत्र हुए, जो तेजस्वी तथा माता-पिता के सदगुणों के अनुरूप थे। उन दिनों रत्नमाला पर्वत पर 'दूषण' नाम वाले धर्मविरोधी एक असुर ने धर्मात्माओं पर आक्रमण कर दिया। सबको सताने के बाद अन्त में उस असुर ने भारी सेना लेकर अवन्ति (उज्जैन) के उन पवित्र एवं कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों पर भी चढ़ाई कर दी। सभी लोक भयभीत होकर उस शिव भक्त ब्राह्मण की शरण में गये। चारों ब्राह्मणों ने भगवान् शंकर की आराधना की। प्रसन्न होकर भगवान महाकाल प्रकट हुए और उन्होंने राक्षसों का संहार किया। भक्तों के प्रार्थना पर लोककल्याण हेतु महाकाल सदा के लिए यहीं स्थित हो गए।

महाकालेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग का सोडसॉ प्रचार पूजन शास्त्रोक्त विधि विधान से प्रातः 4 बजे ब्रह्ममुहूर्त से 6 बजे प्रातः तक सम्पन्न किया जाता है, जिसमें जल, दूध, दधी, घृत, मधु, शक्कर आदि से महाकाल को स्नान कराया जाता है। फिर शुरू होता है अघोर मंत्रों द्वारा महाकाल के भस्म श्रृगांर का विहंगम दृश्य। महाकालेश्वर की भस्मारति देखने के लिए कई महीनों से पहले ही बुकिगं होती है। मन्त्रोचारण के दौरान सम्पूर्ण लिङ्ग विग्रह को कपड़े से पोछकर पूर्ण रूप से साफ कर लिया जाता है। फिर विग्रह पर चंदन तथा भांग आदि से मुखाकृति बनाई जाती है एवं महाकाल को भस्म से स्नान कराया जाता है। प्राचीन समय में महाकाल की भस्म आरती शमशानी होती थी जिसमें चीता भस्म से महाकाल को स्नान कराया जाता था, किंतु आजकल यज्ञ-वेदी के भस्म का प्रयोग किया जाता है। भस्मश्रृंगार का यह दृश्य देखने वाले की आँखों में मानो बस जाता है। भस्मारति के पश्चात् पुष्पश्रृंगार होता है जिसमें लिङ्ग विग्रह को चाँदी के आभूषणों से सुसज्जित कर दिया जाता है, महाकाल के मस्तक पर छत्र, कानों में नागकुण्डल तथा मुण्डमाला से शोभित महाकाल का यह भव्य रूप जीवन्त प्रतीत होता है जिनके सामने श्रद्धा से भक्तों का सर खुद बखुद झुक जाता है। तभी तो कहा गया है कि जिसने महाकाल की आरती नहीं देखी उसका महाकालेश्वर दर्शन अधूरा माना जाता है।

---

9. महाकालेश्वरो नाम शिवः ख्यातश्च भूतले।
तं दृष्ट्वा न भवेत् स्वप्ने किंचिद्दुःखमपि द्विजाः।।
यं यं काममपेदयैव तल्लिगं भजते तु यः।
तं तं काममवाप्नोति लभेन्मोक्षं परत्र च।। शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता 16/50-51

10. शिवपुराण (उत्तरार्ध) अ. 22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग में प्रमुख उज्जैन का महाकलेश्वर मंदिर देश का एकमात्र ऐसा मंदिर है जहाँ महाशिवरात्रि का पर्व नवरात्रि के रूप में मनाया जाता है, जिसमें भगवान महाकाल को नौ दिनों तक नए-नए स्वरूपों में आभूषणों से सजाया जाता है।[11] इस पर्व पर महाकाल का पुष्पों से 'सेहराशृंगार तथा भांग शृंगार भी होता है। जिसमें महाकाल के विशाल शिवलिङ्ग को भांग से दिया जाता है और पूजा तथा दर्शन के पश्चात् विजर्सन होने पर भक्तगण उसका प्रसाद ग्रहण कर अपने आप को धन्य मानते हैं।

उज्जैन का सिंहस्थ मेला बहुत ही प्रसिद्ध है।[12] प्रति 12 वर्ष में पड़ने वाला यह कुंभ मेला यहाँ का सबसे बड़ा मेला हैं, जिसमें देश-विदेश से आए साधु- संतों व श्रद्धालुओं का जमावड़ा लगता है। महाकालेश्वर मंदिर के ऊपरी तल पर स्थित प्राचीन व चमत्कारी नागचंद्रेश्वर मंदिर वर्ष में एक बार केवल नागपंचमी को ही श्रद्धालुओं के दर्शनार्थ खोला जाता है। यहाँ हर वर्ष श्रावण मास में भगवान महाकाल की शाही सवारी निकाली जाती हैं।

मंदिर निर्माण की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन रही है। ईसवी पूर्व की सदियों में भी मंदिर-निर्माण के कई उल्लेख प्राप्त होते हैं। महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग पुराणों में वर्णित पुरातन लिङ्ग हैं, अतः इनके काल को जान पाना कठिन है। महाकाल मंदिर के परिसर में शुङ्गकाल तक के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। जिनके आवलोकन से इस मंदिर की प्राचीनता एवं भव्यता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।[13] रघुवंश में कालिदास ने भी महाकाल मंदिर का उल्लेख किया है।[14] मेघदूत में इस मंदिर को 'धामचण्डीश्वरस्य' कहा गया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक महाकाल का यह भव्य मंदिर दिशा-विदिशा में प्रसिद्ध था। 1235 ई० में दिल्ली के सुलतान इत्लुतमिश ने उज्जैन पर आक्रमण कर महाकाल के मंदिर को क्षतिग्रस्त कर दिया तथा विक्रमादित्य की पीतल की और महाकाल की पत्थर की मूर्ति को दिल्ली ले गया।

इस प्रकार ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के इस प्राचीनतम मंदिर को मुस्लिम शास्कों ने काफी नुकसान पहुँचाया। 18वीं सदी के छठे दशक में मराठा अधिपत्य काल में इस मंदिर का पुनर्निर्माण हुआ जिसे राणेजी सिन्धिया की महारानी के मुनीम रामचन्द्र बाबा शेणवी ने बनवाया।[15] 1235 ई० से 18वीं सदी के छठे दशक के बीच के काल में भी इस मंदिर के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। 1305 ई० में विरचीत मेरूतुङ्ग की 'प्रबन्धचिन्तामणि' में महाकाल मंदिर की चर्चा है। 1441 ई० राजवल्लभकृत 'भोजचरित्र' आदि जैन ग्रन्थों में महाकाल के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इल्त्युतमिश के द्वारा इस मंदिर को नष्ट करने के पश्चात् भी इस मंदिर का अस्तित्व था उसकी ख्याति विश्व

11. त्रिपाठी डॉ० रुद्रदेव, उज्जयिनी और महाकाल, पृ० 150
12. वही, पृ० 65
13. त्रिपाठी, डॉ० रुद्रदेव, उज्जयिनी और महाकाल, पृ० 133
14. रघुवंश सर्ग-6
15. त्रिपाठी, डॉ० रुद्रदेव, उज्जयिनी और महाकाल, पृ० 136

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रसिद्ध थी। ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्टि-कोण के साथ-साथ महाकालेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग मन्दिर की वास्तुकला भी अन्यतम हैं। महाकालेश्वर मंदिर एक विशाल परिसर में स्थित है, जहाँ कई देवी-देवताओं के छोटे-बड़े मंदिर है। मंदिर प्रांगण में प्रवेश हेतु चार द्वार है, जिनमें पूर्वाभिमुख एवं दक्षिणाभिमुख द्वार ही मुख्य हैं। वर्त्तमान महाकालेश्वर मंदिर तीन तलों में विभाजित है। निचले तल में महाकाल स्थित हैं, मध्य में ओंमकारेश्वर तथा सबसे ऊपरी तल में नागचंद्रेश्वर मंदिर स्थित है। मंदिर में प्रवेश करने के लिए मुख्य द्वार से गर्भगृह तक की दूरी तय करनी पड़ती है। इस मार्ग में कई सारे पक्के रास्तों से होते हुए जाना पड़ता है किंतु चौड़ा मार्ग होने से यात्रियों एवं दार्शनार्थियों को अधिक परेशानियाँ नहीं उठानी पड़ती है। पूर्वाभिमुख द्वारा से एक ढलान सीढ़ियों द्वारा गर्भगृह तक पहुँचा जा सकता है। मंदिर का कुल क्षेत्रफल 10.77x10.77 वर्गमीटर और ऊँचाई 28.71 मीटर है।[16]

मंदिर का गर्भद्वार दक्षिणाभिमुख है। गर्भद्वार का अलङ्करण उच्च कोटि का है रजत की परतों से सुसज्जित इस गर्भद्वार का अपना विचित्र इतिहास रहा है। विदेशी आक्रमणकारियों ने मंदिर को नुकसान पहुँचाते हुए इस रजत द्वार को सोमनाथ से गजनी ले गया था जहाँ से मोहम्मद शाह अब्दाली द्वारा इसे लाहौर लाया गया तथा बाद में लाहौर से महाराजा सिंधिया इसे उज्जैन लाए और इस पवित्र रजत द्वार को इस मंदिर में लगवाया। गर्भगृह का द्वार दक्षिणाभिमुख होने से वास्तुसम्मत नहीं है।[17] दक्षिण दिशा यम की दिशा मानी जाती है और महाकाल यहाँ स्वयं दक्षिणाभिमुख स्थित है। सम्भवतः इसी कारण यहाँ इस वास्तु दोष का निवारण स्वतः ही हो जाता है। गर्भद्वार त्रिशूल-डमरू तथा देवता की आकृति से अलंकृत है तथा ललाटबिम्ब पर गणेशाङ्कण स्पष्ट प्रतिम्बित होता है, जो शास्त्रानुकूल है।[18] गर्भगृह की आभ्यान्तर भित्तियाँ देवकक्षों से सुसज्जित है। गर्भगृह के उत्तरी दीवार पर चतुसभूजि पार्वती की मोहक प्रतिमा विराजमान है, पश्चिम भाग में गणेश तथा पूर्व की दीवार में मयूर पर विराजित कार्तिकेय की प्रतिमा स्थित है। मंदिर के गर्भगृह तक पहुँचने से पूर्व का निर्माण नवनिर्माण प्रतीत होता है। गर्भगृह के ठीक सामने एक विशाल सभा-मंडप स्थित है जिसका निर्माण दर्शनार्थियों की अपार भीड़ को ध्यान में रखते हुए बिड़ला उद्योग समूह के द्वारा 1980 में किया गया।[19] गर्भगृह का आकार चतुरस्त्र है, तथा भू-पटल पर संगमरमर पत्थर है, जो नवनिर्मित है। गर्भगृह के आन्तरिक छत पर 100 किलो चाँदी से बना रुद्रयंत्र प्रतिष्ठित है। जिस पर शिव की स्तुति के अनेक मंत्र अंकित है। गर्भगृह में नंदी स्थापित है जो सदैव प्रफुलित दिखाई देते हैं।

---

16. त्रिपाठी डॉ० गिरीशचन्द्र, भगवान शिव और उनके द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग पृ० 40-41
17. एकद्वारं भवेत्पूर्व द्विद्वारं पूर्व-पश्चिमे।
    त्रिद्वारे मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यां विवर्ज्जयेत।। प्रसादमण्डन, 5/20
18. यस्य देवस्य या मूर्तिः सर्व कार्योत्तरङ्गके।
    शाखायाञ्च परिवारो गणेशश्चोत्तरङ्गके।। प्रा. मं.-3/66
19. त्रिपाठी डॉ० रुद्रदेव, उज्जयिनी और महाकाल, पृ० 143

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

महाकालेश्वर ज्योतिर्लिङ्गः का विग्रह गर्भगृह के मध्य में स्थित है। यह काले पथर का स्वयम्भू लिङ्ग है, जो दक्षिाभिमुख है। यह लिङ्ग विग्रह दो हाथ लम्बी तथा एक हाथ मोटा है। लिङ्ग विग्रह के चारों ओर चाँदी से बना एक विशाल घेरा है तथा गौरी पृष्ठ पर नाग एवं शङ्ख की आकृति बनी हुई है। विग्रह के समीप ही चाँदी से बना त्रिशूल एवं डमरू भी स्थित है। गौरी पृष्ठ से जल प्रवाह पूर्व दिशा की ओर निकलता है। महाकालेश्वर मंदिर के गंर्भगृह के ठीक सामने सभामण्डप में नन्दी की प्रतिमा एक ऊँची वेदी पर स्थापित है। नन्दी की यह प्रतिमा पूर्ण चाँदी की बनी है जो गर्भद्वार के समीप तथा लिङ्ग विग्रह को देखने में तत्पर है। शिव के सर्वप्रमुख गणों में इस नन्दी की स्थापना शास्त्रोक्त विधि के अनुकूल है।[20] सम्पूर्ण महाकालेश्वर मंदिर कई विशाल स्तम्भों पर आधारित है। स्तम्भ लाल पत्थरों से बने हुए हैं जो आमलक, भरणी एवं पद्म से सुशोभित हैं। तथा शीर्ष पद देव आकृति अंकित है। सम्पूर्ण स्तम्भ सुन्दर आकृतियों से सुसज्जित है। स्तम्भ की कुम्भिका पत्रांकन से शोभित है। मंदिर के मण्डोवर में भव्य अलंकरण स्पष्ट देखा जा सकता है। मण्डोवर के चारों दिशा में सिंह आकृति है तथा शिखर 118 छोटे-छोटेश्रृंगों से युक्त है, जिस पर हाल ही में 16 किलो स्वर्ण चढ़ाया गया है। जिससे मंदिर शिखर की शोभा और बढ़ गई है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर-भारतीय शैली में निर्मित यह एक प्राचीनतम ज्योतिर्लिङ्ग मंदिर है जिसकी ख्याति विश्व प्रसिद्ध है। मुसिलम आक्रमकारियों ने इस मंदिर को काफी नुकसान पहुँचाया कितुं मंदिर का समय-समय पर जीर्णोद्धार होता रहा। 18वीं सदी के छठे दशक में मंदिर का पुनर्निर्माण करवा के राणेजी सिन्धिया की महारानी के मुनीम रामचन्द्र बाबा शेणवी ने इस सांस्कृतिक धरोहर को इतिहास के पन्नों में फिर से जीवन्त कर दिया।

---

20. "देववीक्षणत्परः," मत्स्यपुराण 195/18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूमि परीक्षण

–श्री नवीन कुमार

वास्तुशास्त्र में भूखण्ड के आकार, प्रकार एवं विस्तार और भूमि के ढलान तथा उसके आस-पास के वातावरण द्वारा चयनित भूमि पर निवेश से पूर्व उसकी आंतरिक एवं बाह्य परीक्षण का निर्देश किया गया है, क्योंकि कुछ भूमियाँ शल्यादि दोष से युक्त होती हैं जिनसे भू-स्वामी को मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक हानि हो सकती है।

भूमि परीक्षण की विधियाँ

भूमि परीक्षण में परीक्षण शब्द परि+ईक्षु+ल्युट् के योग से बनता है, जिसका अर्थ है- जाँच-पड़ताल करना, परखना, इम्तहान लेना इत्यादि।[1] निवेश योग्य भूखण्ड का बाह्य अर्थात् वर्ण, गंध, स्वाद, स्पर्श, शब्द आदि और आंतरिक अर्थात् खात खनन से मिट्टी के घनत्व तथा शल्यादि से जाँच पड़ताल करना ही भूमि परीक्षण कहलाता है। वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों के आधार पर भूमि परीक्षण को निम्नलिखित विधियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) भौगर्भिक परीक्षण (2) प्राचीन पद्धति से भूमि परीक्षण (3) शल्य परीक्षण (4) शकुनों के आधार पर भूमि परीक्षण (5) वैज्ञानिक आधार पर भूमि परीक्षण।

भौगर्भिक परीक्षण

भूमि को वर्ण, गंध, स्वाद, स्पर्श तथा शब्द द्वारा परखना ही भौगर्भिक परीक्षण कहलाता है।[2]

वर्ण परीक्षा

भूमि की यह परीक्षा मिट्टी के रंग के आधार पर की जाती है। मिट्टियों के रंग भिन्न-भिन्न होते हैं, कुछ मिट्टी चूने जैसी सफेद होती है, तो कुछ लाल, कुछ भूरी, कुछ राख के रंग की होती है। कहीं-कहीं पीली और काली मिट्टी भी पायी जाती है। मिट्टी के ये रंग विभिन्न द्रव्यों की उपस्थिति के कारण होते हैं।[3] भारतीय वास्तुशास्त्र में भी ब्राह्मणादि वर्ण के क्रम

1 क. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोष- पृ. 503
ख. जी, नवल, नालन्दा शब्द सागर- पृ. 806
ग. देव, राजा राधाकान्त, शब्दकल्पद्रुम- का. 3, पृ. 67
2. भवन निवेश - पृ. 18
3. प्रसाद, शिवनाथ, भूमि रसायन- पृ. 721

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से श्वेत, लाल, पीली एवं काली ये चार प्रकार की मिट्टियाँ कही गई हैं।[4] प्रत्येक वर्ण को अपने रंग की मिट्टी पर ही निर्माण करना चाहिए।

गंध परीक्षा

जिस भूमि की मिट्टी से घी या मधु के समान गंध आती हो वह ब्राह्मणों के लिए, रक्त की गंध वाली क्षत्रियों के लिए, अन्न जैसी गंध जिस भूमि की हो वह वैश्यों एवं मदिरा, मल जैसी गंध वाली भूमि शूद्रों के लिए प्रशस्त मानी गई है।[5]

स्वाद परीक्षा

इष्ट भूमि की धूल को जिह्वा पर रखें यदि उसका स्वाद मधुरस से युक्त हो तो वह ब्राह्मणों के लिए, कषाय रस से युक्त भूमि क्षत्रियों के लिए, वैश्यों के लिए आम्ल रस युक्ता भूमि एवं कटु रस के स्वाद वाली भूमि शूद्रों के लिए उत्तम मानी गई है।[6] कुछ विद्वानों ने कषाय रस से युक्त भूमि शूद्रों एवं कटुरस वाली क्षत्रियों के लिए प्रशस्त मानी है।[7]

स्पर्श परीक्षा

जो भूमि ग्रीष्म के आगमन पर स्पर्श करने से ठण्डी मालूम पड़े, जाड़ा आने पर गर्म मालूम पड़े और वर्षा ऋतु में गर्म एवं ठण्डी दोनों ही तरह की मालूम पड़े उनकों आचार्यों ने प्रशस्त भूमि माना है।[8]

---

4 क. श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णवर्णानुपूर्वतः।
विश्वकर्माप्रकाशः - अ. 9, श्लो. 24, पृ. 12
ख. सितरक्तपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमिः।
बृहत् संहिता - अ. 53, श्लो. 84, पृ. 56

3. सुगन्धा धरित्रो स्मृता ब्राह्मणी
रक्तगन्धान्विता क्षत्रियां सा भवेत्।
अन्नगन्धस्य युक्ता तु वैश्या स्मृता,
मद्यगन्धा मही शूद्रिका कीर्तिता।।
पाण्डेय, मातृप्रसाद, वास्तुमाणिक्य रत्नाकारः- श्लो. 12, पृ. 4

6. बृहत् संहिता - अ. 53, श्लो. 85, पृ. 53

7. वास्तुसौख्यम् - भाग.2, श्लो. 15, पृ. 4

8 क. धर्मागमे हिमस्पर्शा या स्यादुष्णा हिमागमे।
प्रावृष्युष्णहि मस्पर्शा सा प्रशस्ता वसुन्धरा।।
समराङ्गणसूत्रधार - अ.10, श्लो. 50, पृ. 42
ख. पाण्डेय, शैलजा, गृहवास्तुप्रदीप- पृ. 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शब्द परीक्षा

जो भूमि ताड़ने पर मृदङ्ग, वीणा, सितार, दुन्दभि की ध्वनि के समान ध्वनि देती है और जिनकी हाथी, घोड़े, समुंद्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है वे सभी शुभ भूमियाँ कही गई हैं।[9]

प्राचीन पद्धति से भूमि परीक्षण

जिस भूखण्ड पर निर्माण करना हो, वहाँ की मिट्टी ठोस है या नहीं। इस तथ्य की भली भाँति जाँच कर लेनी चाहिए। प्राचीन वास्तुग्रन्थों में मिट्टी के घनत्व का परीक्षण करने की अनेक पद्धतियाँ बतलाई गई हैं जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण विधियाँ इस प्रकार हैं।

जल द्वारा भूमि परीक्षण

1. जिस भूमि पर निर्माण करना हो उस भूमि के मध्य में भू-स्वामी के हाथ के नाप से एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा, एक हाथ गहरा गड्ढ़ा खोदे और उस गड्ढे को जल से पूर्ण करके, समान गति से 100 कदम जाकर पुनः उसी स्थान पर वापस लौटे। यदि गड्ढे में पानी पूर्ण है तो वह भूमि शुभ यदि गड्ढे में एक चौथाई पानी कम हो गया हो तो भूमि मध्यम तथा गड्ढे में पानी आधा या उससे कम हो गया हो तो वह भूमि निवेश योग्य नहीं होती है।[10]

2. निवेश हेतु एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा व एक हाथ गहरा गड्ढा खोदकर साँयकाल में उसे जल से भर दे। प्रातः काल में निरीक्षण के समय गड्ढे में जल हो तो भूमि उत्तम तथा कीचड़ हो तो भूमि मध्यम यदि दरार पड़ गई हो तो भूमि अधम होती है अधम भूमि पर निर्माण वर्जित है।[11]

---

9. क. मृदङ्गवल्लकीवेणुदुन्दुभीनां समाध्वनौ।
द्विपाश्चाब्धि समास्वाना चेति स्युर्भूमयः शुभाः।।
समराङ्गणसूत्रधार - अ. 10, श्लो. 51, पृ. 42
ख. शुक्ल, कमलाकान्त, वास्तुसारसंग्रह-तुरीयं सोपानम्, श्लो. 44, पृ. 23

10. क. खातं भूमि परीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा,
हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवृद्धितः।
तत्कृत्वा जल पूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्यं ततः,
पादार्धेन विहीनकेऽथ निभृते मध्याधमेष्ट जलम्।
वास्तुराजवल्लभः - अ. 9 श्लो. 16, पृ. 8
ख. बृहत् संहिता - अ. 53, श्लो. 81, पृ. 55

11. क. रात्रादौ तज्जलैः पूर्य प्रातः सम्यङ्निरीक्षयेत,
जलयुक्तं वृद्धिकरं पङ्कयुक्तं तु मध्यमम्।।
वशिष्ठ संहिता - अ. 38, श्लो. 5, पृ. 382
ख. वरीवति गेहस्य निर्मातुमिच्छा खनेद्धस्तमात्रं धरायां हि तत्र।
निशास्ये जलं पूरितं तु प्रभाते प्रपश्येज्जलं सत्त्वसत् स्फाटितं च।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3. भूखण्ड के स्वामी के हाथ से एक हाथ घन भूमि खोदकर पानी से लबालब भर दे। फिर देखें कि पानी जैसा का तैसा हो तो वह भूमि उत्तम, उसी क्षण सूख जाये तो नाशवान्, जल स्थिर रहे तो स्थिरता, दक्षिणावर्त घूमे तो सुख और वामावर्त घूमे तो भू-स्वामी की मृत्यु होती है।[12]

मिट्टी द्वारा भूमि परीक्षण

भू-स्वामी के हाथ की नाप से भूखण्ड के बीच में एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा गड्ढा खोदे पुनः उस गड्ढे को उसी मिट्टी से भर दें, यदि गड्ढे को अच्छी तरह भरने के बाद मिट्टी बच जाये, तो वह भूमि निवेश के लिए उत्तम, यदि उस मिट्टी से गड्ढा भर जाये किन्तु मिट्टी शेष न रहे तो वह भूमि मध्यम, परन्तु यदि उस मिट्टी से गड्ढा न भरे तो उस पर निवेश नहीं करना चाहिए।[13]

दीपक द्वारा भूमि परीक्षण

भूखण्ड के मध्य में एक हाथ घन गड्ढा खोदकर तथा उसे गोमय से लीपकर उसमें कच्चे मिट्टी के करनोई में घृतपूर्ण कर चार दिशाओं के निमित्त चार बत्ती प्रज्वलित कर दें। जब तक घृत है तब तक सभी बत्तियाँ जलती रहे, तो उस वास्तु को सामूहिक कहते हैं। वह भूमि प्रसाद एवं गृह के लिए चारों वर्णों को शुभ होती है। यदि केवल उत्तर की बत्ती जलती रहे तो वह ब्राह्मणों के लिए शुभ होती है और पूर्व की जलती रहे तो क्षत्रियों के लिए, दक्षिण की बत्ती जलती रहे तो वैश्यों के लिए एवं पश्चिम की बत्ती जलती रहे तो शूद्रों के लिए वह भूमि शुभ होती है।[14]

जलेनरहितं खातं माध्यम हि प्रकीर्तितम् पूर्णे पूर्ण शुभं मध्ये मध्यमं स्फाटिते शुभम्।
पाण्डेय, मातृप्रसाद, वास्तुमाणिक्यरत्नाकारः- श्लो. 28-30, पृ. 10

ग. वास्तुसौख्यम् - भा. 2, श्लो. 17, पृ. 5

12 कर्तृक्ष हस्तप्रमितं खनित्वा खातं पयोभिः परिपुरितं चेत्।
वसेत्सुतार्थी परिपूतितंस्याच्छुष्के भवते् तत्क्षणमेव नाशः।।
स्थिरे जले वै स्थिरता गृहस्य स्याद्दक्षिणावर्त्तजलेन सौरष्यम्।
क्षिप्रं जलं शोषयतीह खातो मृत्युहि वामेन जलेन कर्तुः।।
बृहद्वास्तुमाला - श्लो. 108-09, पृ. 22

13 क. निखनेद्वस्तमात्रेण पुनस्तेनैव पूरयेत,
पॉशुनाधिकमध्याना श्रेष्ठा मध्याधमा क्रमात्।।
विश्वकर्माप्रकाशः - अ. 1, श्लो. 61, पृ. 98

14 क. अरत्निमात्रे गर्ते वैस्वनुलिप्ते तु सर्वतः, घृतमाससरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयम्।
ज्वालयेद्भून्परीक्षार्थ सम्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्, दीप्तिपूर्वादि गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः।।
वास्तुसामूहिकों नामदीप्यते यस्तुसर्वतः, शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च।।
मत्स्य पुराण - भा.2, अ. 252, श्लो. 12-13, पृ. 1088

ख. वास्तुसौख्यम् - भा.2, श्लो. 23-28, पृ. 8

ग. बृहत् संहिता - अ. 53, श्लो. 82, पृ. 55

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुष्प द्वारा भूमि परीक्षण

उपर्युक्त भूमि में एक हाथ घन गड्ढा खोदकर तथा उसे गोमय से लीपकर ब्राह्मणादि वर्णानुरूप क्रमशः सफेद, लाल, पीला एवं काला पुष्प उसमें रख दे। प्रातः काल निरक्षण के समय जिस वर्ण का पुष्प न मुर्झाया मिले उस वर्ग के लिए वह भूमि प्रशस्त मानी जाती है।[15]

बीज द्वारा भूमि परीक्षण

जिस भूमि पर निवेश करना हो, उसे हल से जोतकर उसमें बीज बो दें। यदि बीज बोने पर तीन दिन में बीज उग जाये तो वह भूमि निवेश के लिए श्रेष्ठ, पाँच दिन में बीज उगे तो उत्तम, किन्तु सात या अधिक दिन में बीज उगे तो वह भूमि कनिष्ठ होती है। कनिष्ठ भूमि गृहादि निर्माण कार्य में सर्वथा त्याज्य है।[16]

शल्य परीक्षण

शल्य से अभिप्राय है- शस्त्रचिकित्सा, श्लाका हड्डी तथा वे वस्तुएँ जिनसे शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा या रोग आदि उत्पन्न होता है।[17] गृह बनाने से पूर्व या बाद में यदि शल्य की स्थिति प्रतीत हो तो उसे निकलवाना चाहिए। शल्य परीक्षण के लिए गृह निर्माण के दौरान या बनने के बाद गृहस्वामी घर के अन्दर प्रधान स्थपति के साथ जाए। इस समय साथ में दैवज्ञ रहे तो विशेष उपादेय है, तब गृहस्वामी शरीर के जिस अंग को खुजलाएँ उसी अंग में वास्तु पुरुष के शरीर विभागानुसार शल्य होता है।[18] शल्य परीक्षण मुख्यतः दो प्रकार से किया जाता है– (1) प्रश्नाक्षर द्वारा (2) शकुन द्वारा।

प्रश्नाक्षर द्वारा शल्य परीक्षण

प्रच्छ्+नङ् प्रत्यय से प्रश्न शब्द बना है जिसका अर्थ है सवाल, पूछताछ, परिपृच्छा इत्यादि।[19] भू-स्वामी को कोई वर्ण उच्चारण करने को कहें, यदि वह अ वर्ग का उच्चारण करता

---

15 क. बृहत् संहिता - अ. 53, श्लो. 82, पृ. 55
ख. समराङ्गणसूत्रधार - अ. 90, श्लो. 73, पृ. 43
ग. वास्तुसौख्यम् - भा.2, श्लो. 28, पृ. 8
घ. शुक्ल, कमलाकान्त, वास्तुसार संग्रह- तुरीयं सोपानम्, श्लो. 18, पृ.18

16 क. हलाकृष्टे तथादेशे सर्वबीजानी वापयेत्, त्रिपञ्च सप्तरात्रेण न परोहन्ति तान्यपि।
उप्तजीबा त्रिरात्रेण सांकुरा शोभना मही, मध्यमा पञ्चरात्रेण सप्तरात्रेण निन्दिता।।
विश्वकर्माप्रकाशः- अ. 9, श्लो. 64-66, पृ. 18
ख. मत्स्यपुराण- भा.2, अ. 252, श्लो. 17-18, पृ. 1100
ग. शिल्पशास्त्र- अ. 9, श्लो. 7-8, पृ. 4-5

17. बृहत् संहिता - अ. 52, श्लो. 903, पृ. 588

18. तत्रैव।

19. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ० 653

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है तो भूखण्ड की पूर्व दिशा में मनुष्य का शल्य डेढ़ हाथ नीचे जानना चाहिए। इससे मनुष्य की मृत्यु होती है। क वर्ग का उच्चारण करे तो अग्निकोण में गदहे का शल्य 2 हाथ के नीचे होता है, इससे राजदण्ड मिलता है। च वर्ग के उच्चारण से दक्षिण में कटी तुल्य नीचे शल्य जानना चाहिए इससे भू-स्वामी का मरण होता है। ट वर्ग से नैर्ऋत्य कोण में 1.5 हाथ नीचे कुत्ते की हड्डी होती है, इससे बालक का मरण होता है। त वर्ग से पश्चिम में बालक की हड्डी 1.5 हाथ नीचे होती है, इससे भू-स्वामी परदेश में रहता है। प प्रश्नाक्षर से वायव्य दिशा में 4 हाथ नीचे भूसी और कोयला रहता है, इसमें मित्रनाश और दुःस्वप्न होता है। य प्रश्नाक्षर हो तो उत्तर दिशा में मछली का काँटा 2 हाथ नीचे रहता है, इसमें दरिद्रता होती है। श प्रश्न में हो तो ईशान कोण में गो शल्य 1.5 हाथ नीचे होता है, यह गोधन नाशक होता है। ह, य, प प्रश्नाक्षर हो तो मध्य में भी 3 हाथ नीचे केश व लोहे का टुकड़ा होता है, इससे मृत्यु होती है।[20]

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि भू-स्वामी अ, क, च, ट, त, प, य, श इन अक्षरों का उच्चारण करें तो पूर्वादि दिशा में और ह, य, प इनसे प्रश्नाक्षर का उच्चारण हो तो अपनी दिशाओं के अतिरिक्त मध्य में शल्य भी जानना चाहिए।[21]

शकुन द्वारा शल्य परीक्षण

संस्कृत में 'शकुन' पक्षी विशेष को कहते हैं।[22] किसी कार्य के समय दिखलाई देने वाले लक्षण, जो उस कार्य के सम्बन्ध में शुभ या अशुभ की सूचना देते हैं वह शकुन कहलाते है।[23] पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऐसी आकस्मिक घटना को जिसे भविष्य का द्योतक समझा जाता है, शकुन कहते है। भविष्य के सम्बन्ध में अप्रत्याशित संदेश का नाम भी शकुन है।[24]

20. क. पृच्छायां यदि अः प्राच्यां नरशल्यं तदा भवेत्। सार्द्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुषमृत्युकृत्।।
आग्नेय्यां यदि कः प्रश्ने खरशल्यङ्करद्वये। राजदण्डो भक्तेत्र भयन्नैव निवर्तते।
याम्यायां दिशि चः प्रश्ने कुर्य्यादाकटिसंस्थितम्। नरशल्यङ्गृहेशस्य मरणं चिररोगतः।।
नैर्ऋत्यां यदि टः प्रश्ने सार्द्धहस्तादधस्तले। शुनोऽस्थित जायते तच्च बालानां जनयेन्मृत्रिम्।
तः प्रश्ने पश्चिमायान्तु शिशोः शल्य प्रजायते। सार्द्धहस्तमिते तत्र स्वामिनं नेच्छति ध्रुवम्।।
वायव्यां यदि पः प्रश्ने तुषाङ्गाराश्चतुष्करे। कुर्वन्ति मित्रनाशं च दुःस्वप्नदर्शनन्तथा।।
उदीच्यां यदि यः प्रश्ने तदा शल्यं कटेरधः। तदरं निर्द्धनत्वाय कुबेरसदृशस्य हि।।
ऐशान्यां यदि शः प्रश्ने गोशल्यं सार्द्धहस्ततः। तद्गोधनानां नाशाय गृहमेधिनः।।
हपया मध्यमे कोष्ठे वक्षोमात्रे भवेदधः। नृकपालं कचा भस्म लोहं तत्कुलनाशनम्।।
—वास्तुरत्नावली - आ.2, पृ. 22, 23

ख. विश्वकर्माप्रकाशः - अ. 12 श्लो. 12-29, पृ. 180-89

ग. शुक्ल, कमलाकान्त, वास्तुसारसंग्रह-षष्ठसोपानम्- श्लो. 21-28, पृ. 42

21. वास्तुराजवल्लभः अ. 1, पृ. 13

22. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत-हिन्दी कोष- पृ. 854

23. देव, राजाराधाकान्त, शब्दकल्पद्रुम- भा. 5, पृ. 2

24. An own is an event which is supposed to indicate derting, the chief feature being the gratuitous nature of the happening. it is a message about the future which we do not seek for. T. Sharper, Khowison, The Origion of superstitious and customs. p. 162

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

षड्गुणीकृत सूत्र को भूमि पर वास्तु के भित्ति क्रम से प्रसारण करे। उसका जो प्राणी उल्लङ्घन करता है उसी प्राणी की हड्डी एक पुरुष अर्थात् 3.5 हाथ नीचे होती है।[25] तेल उबटन लगाया हुआ मनुष्य उस भूमि पर जिस स्थान व दिशा में दिखाई दे, उस दिशा के उसी स्थान पर सत्तर अङ्गुल नीचे मानव की हड्डी होती है। सूत्र प्रसारण के समय वास्तु भूमि के जिस स्थान पर श्वान बैठ जाय; उस स्थान में श्वान की हड्डी साठ अङ्गुल नीचे होती है।[26] उन्मादी व्यक्ति आकर जहाँ उपस्थित हो जाए, वहाँ भी मानव की हड्डी दो हाथ नीचे होती है। चाण्डाल व जटाधारी भूमि के जिस स्थान में उपस्थित हो, वहाँ भी अस्सी अङ्गुल नीचे मानव की हड्डी मिलती है। मनुष्य, घोड़ा, हाथी, कुत्ता, पशु आदि एक ही साथ जिस स्थान में उपस्थित हो, उसी स्थान में साठ अंगुल नीचे हड्डी जाननी चाहिए। यदि भूमि संशोधन के समय कहीं आग लग जाए तो उस भूमि में आठ हाथ नीचे बकरे की हड्डी होती है। भूमि संशोधन के लिए सूत्र प्रसारण के समय यदि सूत टूट जाय या घड़ा फूट जाय तो क्रमशः दम्पत्ति के मृत्यु की सूचना देती है।[27]

खात खनन के समय मृदङ्ग, भेरी, हारमोनियम, सितार, बिगुल, वेणु, शहनाई आदि का सुन्दर शब्द सुनाई दे तथा दधि, दुर्वादि मंगलद्रव्य एवं ब्राह्मण, गाय, कन्या, सौभाग्यवती स्त्री प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दे या वहाँ उपस्थित हो जाये तो यह अतिशुभफलदायक शकुन होता है।[28]

यदि सूत्र फैलाने के समय सूत्र टूट जाय तो गृहपति की मृत्यु होती है, गाड़ने के समय कील का मुख नीचे की तरफ हो जाय तो गृहपति को बहुत बड़ा रोग होता है। यदि उसी समय गृहपति और कारीगर की स्मरण शक्ति नष्ट हो जाए तो दोनों की ही मृत्यु कहनी चाहिए। यदि जल से भरा कलश लाते समय गिर जाए तो गृहपति को सिर का रोग तथा कलश गिर कर उलट जाए तो गृहस्वामी के कुल में उपद्रव और अगर फूट जाए तो कारीगर की मृत्यु होती है।[29]

अगर खात खनन के समय पत्थर, सोना और ईंट मिले तो वृद्धि होती है तथा द्रव्य रुपया वगैरह मिले तो सुख, ताम्रादि धातु मिले तो वृद्धि, चींटी और मेंढक मिले तो वहाँ गृहकर्त्ता को

---

25 बृहद्वास्तुमाला- श्लो. 162-163, पृ. 31-32

26 वशिष्ठ संहिता - अ. 38, श्लो. 77-80, पृ. 386-87

27 वशिष्ठ संहिता - अ. 38, श्लो. 88-90, पृ. 386-87

28. मृदङ्गादिभेर्यादिनां च शब्दः तयाशङ्खशब्दश्च सौम्यानि यानि।
सुद्रव्याणि वा तत्र विप्राश्च बालाः स्थिता सुन्दरी चेद्भवेन्मङ्गलानि।
वास्तुमाणिक्यरत्नाकरः श्लो. 38, पृ. 92

29 सूत्रच्छेदे मृत्युः कीले चावाङ्मुखे महान् रोगः।
गृहानाथस्थपतीनां स्मृतिलोपे मृत्युरादेश्यः।।
स्कन्धाच्च्युते शिरोरुक् कुलोपसर्गोऽपवर्जिते कुम्भे।
भग्नेऽपि च कर्मिवधश्चयुते कराद् गृहपतेर्मृत्युः।।
बृहत् संहिता- अ. 53, श्लो. 108-09, पृ. 61

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निवास नहीं करना चाहिए।[30] यदि भूमि में प्रवेश के समय वेश्या अथवा अंकुश, दीपक, माला, भूषण आदि से युक्तबाला आ जाए तथा उस समय वर्षा भी हो जाय तो उस भूमि पर उत्तम फल की प्राप्त होता है।[31] इस प्रकार शकुनों के द्वारा परीक्षित भूमि उत्तम फल देने वाली होती है इस प्रकार की वृद्धिदायक भूमि का ही चयन करना चाहिए।

वैज्ञानिक आधार पर भूमि परीक्षण

मानव उपयोग की दृष्टि से सभी देशों की मिट्टयाँ वहाँ के आवरण-प्रस्तर का सबसे अधिक मूल्यवान अंश है, और उनकी प्राय: सबसे बड़ी प्राकृतिक सम्पत्ति है।[32] मिट्टी भू-स्तर पर एक पतली परत के रूप में पाई जाती है। जिसका निर्माण चट्टानों के टूटने से प्राप्त हुए खनिज कणों, पेड़, पौधों एवं जीव जन्तुओं के गले सड़े असंख्य मिश्रणों से होता है।[33] मिट्टी पृथ्वी की मृत्तक धूल को जीवन के सातत्य से जोड़ती है।[34] जल में रहने वाले जीवों को छोड़कर और स्थल के कुछ पतंगों को छोड़कर, पृथ्वी के शेष समस्त जीवधारी मिट्टी के आधार पर जीवित हैं।[35] आधुनिक विज्ञान भूमि का परीक्षण उसकी उपजाऊ शक्ति के आधार पर करता है, तथा उसकी यह उपजाऊ शक्ति उसकी मिट्टी में होती है। विज्ञान में मिट्टी के परीक्षण से दो आवश्यक तत्वों की खोज की गई है। पहला स्थूल तत्त्व एवं दूसरा सूक्ष्म तत्त्व।

स्थूल तत्त्व

स्थूल तत्त्व जो कि संख्या में 14 हैं और पौधों द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। जिनमें अवशोषित 6 का विशेष अध्ययन किया गया है। जो निम्नलिखित है- नाईट्रोजन, फास्फोरस, पोटाशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम और सल्फर।[36]

---

30. खाते शिलां वा लभते हिरण्यं तथेष्टिकाञ्चापि समृद्धिरत्र।
द्रव्यं च रम्याणि सुखानि धत्ते ताम्रादि धातुर्यदितत्र वृद्धिः।।
पिपीलिका: षोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्त्ता।।
वास्तुरत्नावली - अ.2, पृ. 31

31 विश्वकर्माप्रकाश: अ.1, श्लो. 77, पृ. 21

32 Wadia, D.N., Geology of India, p. 512

33 "Soil is the thin surface layer on the earth, comprising mineral particles formed by the break down of rocks, decayed organic material, living organisms, soil water and soil atmosphere.
Monkhouse, F.J., A Dictionary of Geography – P. 323.

34 Cole, Grenville, Ouocted by Arthur Holmes in Physical Geology- p. 12 2.

35 No Life of any consequence would be possible upon the earth were it not for soils.
White, C.L. and and Renner, G.T., Humar Geography, P. 407

36 Harry O. Buckman and Nyle C. Brady, The nature and properites of soil. ch. 2, p. 21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूक्ष्म तत्त्व

सूक्ष्म तत्त्व के अन्तर्गत लोहा, मैगनीज, तांबा, जस्ता, बोरोन, मोलिब्डेनम, क्लोरीन, कोबाल्ट इत्यादि आते है, यह बहुत कम मात्रा में प्रयुक्त होते है।[37] मृत्तिका में इन स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व का अध्ययन कर मिट्टी की उपजाऊ शक्ति का पता लगाना एवं उसको विभिन्न खाद के प्रयोग से बनाए रखना आज के विज्ञान का ही चमत्कार है। आज सभी भवन एवं बिल्डिंग निर्माण में भूकम्प रोधी तकनीक को अपनाया जा रहा है ताकि भवन लम्बे समय तक टीक सके। वास्तुशास्त्र में भूमि का तृण आदि से परीक्षण किया गया है[38] जिससे भूमि के घनत्व का पता लगाया जाता है जो प्राचीनवास्तुविज्ञान की वैज्ञानिकता को दर्शाता है तथा यह पद्धति आज भी प्रयुक्त ही मानी जा रही है।

अतः भूमि की अच्छे से परीक्षा करके सभी प्रकार के दोषों से रहित भूखण्ड पर भवन एवं बिल्डिंग का निर्माण करना चाहिए।

भारतीय दर्शन मनुष्य के चार लक्ष्य बताता है- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। समस्त भारतीय शास्त्रों का परम लक्ष्य इनको प्राप्त करने का मार्ग बताता है। इन चारों की प्राप्ति के लिए शरीर, मन और बुद्धि का अनुकूल होना अनिवार्य है अर्थात् शरीर स्वस्थ होगा, मन स्थिर होगा और बुद्धि निर्मल होगी तो इनकी प्राप्ति सहज में हो सकेगी। ऐसा तभी संभव है जब भवन अव्यक्त ऊर्जाओं को ध्यान में रखकर निर्मित किया जाए। वास्तुशास्त्र में पञ्चमहाभूतों एवं प्राकृतिक शक्तियों के तालमेल से भवन-निर्माण के सिद्धांतों, नियमों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया गया है।

आधुनिक जीवन में भूमि की महत्ता इतनी अधिक हो गई है कि वह आदमी का सर्वोत्तम स्रोत बन गई है। महानगरों में व्यर्थ पड़ी हुई भूमि भी अत्यधिक मंहगी है। आज अधिकांश जनता भौतिकवादी जीवन की ओर अग्रसर हो रही हैं। लोग गाँव की भूमि बेचकर शहरों में जमीन लेने को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। किन्तु जमीन अर्थात् भूमि का चयन पूर्णतः शास्त्रानुसार करना श्रेयस्कर होता है। भूमि के शुभाशुभत्व के आधार पर ही गृह निवास, व्यवसाय अथवा धार्मिक वास्तु के निर्माण की नींव रखी जाती है।

आज शुभ भूमि का प्राप्त होना बहुत भाग्य की बात है। विवश होकर मनुष्य को कुछ समझौता करना पड़ता है। शास्त्रों में भूमि शोधन की कई विधियाँ बतलाई गई हैं। भूमि में व्याप्त दोषों का परिहार कर उस पर आवश्यकतानुसार वास्तु का निर्माण करना चाहिए। बुनियाद जैसी होती है, उसी के समान शेष भवन की स्थिति होती है। आज हमारे यहाँ वास्तु का बहुत ही महत्त्व है। बड़े-बड़े होटल, शो-रूम, अस्पताल, मॉल आदि सभी के निर्माण के पूर्व वास्तुशास्त्र के सभी नियमों को ध्यान में रखकर कार्य प्रारम्भ किया जाता है। आज कई ऐतिहासिक जगहों के भूमि

---

37 तत्रैव।

38 विश्वकर्माप्रकाशः - अ. 1, श्लो. 34-35, पृ. 14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोधन किये जा रहे हैं, और शल्य को जानकर उन्हें बाहर किया जाता है। सभी वास्तु का मूलाधार भूमि ही है। भूमि सभी के लिए आश्रय स्वरूपा है। भूखण्डों के प्रकार और उनमें उपस्थित वेधों को शुभत्व के दृष्टिकोण से शास्त्रसम्मत कराना आवश्यक होता है।

सर्वेक्षण के दौरान कुछ भूमि का परीक्षण किया गया, जिसका शुभाशुभत्व शास्त्रोक्त दृष्टि से बताये गये फलों के अनुसार प्राप्त हुआ। आलिशान भवनों में भी दुःख व्याप्त था, जिसका कारण भूमि में स्थित वेधशूलादि दोष थे, जिसकी अनदेखी करके भवन निर्माण करा लिये गये थे। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार चयन की गई भूमि पर गृह निर्माण समृद्धिदायक होता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वज्रलेप निर्माण एवं प्रयोग

–श्री प्रवेश व्यास

प्राचीन काल में जिस समय अन्य सभ्यतायें जंगली जीवन जी रही थीं, उस समय भारतीय मेधा अत्यन्त उन्नति प्राप्त कर चुकी थी। भारतीय विद्वानों ने अपनी अन्तर्दृष्टि एवं दीर्घकालीन अन्वेक्षण द्वारा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जाना, एवं प्रकृति के साथ सामञ्जस्य बनाकर रहना सीखा और सीखाया, उन्होंने ही जीवन जीने की कला को वास्तु शास्त्र कहा। सिन्धु नदी घाटी पर विकसित हुई वैदिक सभ्यता व हडप्पा मोहनजोदडो में प्राप्त हुआ व्यवस्थित नगरविधान इस बात का प्रमाण है कि विश्व की यह प्राचीनतम संस्कृति एक पूर्ण व्यवस्थित तरीके से स्थापित हुई थी।[1] प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति प्रदत्त प्रत्येक तत्त्व को उपयोगी माना, उनके अनुसार इस प्रकृति में कोई भी वस्तु, वनस्पति या प्राणी व्यर्थ नहीं है। केवल उसके गुणों को जानने वाला होना चाहिये।[2] और उन्हीं गुणों के पारखी हमारे प्राचीन वास्तुशास्त्र के आचार्य थे। आचार्यों द्वारा आविष्कृत वस्तुयें लोकोपयोगी होने के साथ प्रकृति के अनुकूल भी थीं। अतः निर्माण भी प्रकृति को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। यही कारण है कि सैकड़ो वर्षों पूर्व निर्मित भवन, मन्दिर, दुर्ग आज भी विद्यमान है। अंगकोर का विष्णु मन्दिर, काञ्चीपुरम् का प्राचीन शिव मन्दिर, मीनाक्षी मन्दिर, कोर्णार्क मन्दिर, तिरुपतिस्थ बालाजी मन्दिर, कालास्ती शिव मन्दिर, प्राचीन सभी विशाल दुर्ग व भवन, वराहमिहिर द्वारा निर्मित विष्णुध्वज (कुतुबमीनार)[3] आदि आज भी सैकड़ो वर्षों से प्राकृतिक प्रकोपों को सहते हुए प्राचीन उन्नत शिल्पविज्ञान की गौरव गाथा गाते हैं।

इन प्राचीन निर्माणों में लकड़ी, ईंट, पत्थर का उपयोग बड़ी शुद्धता व सावधानी से किया जाता था।[4] इन्हें आपस में जोड़ने के लिये विभिन्न प्रकार के संधियोगों का प्रयोग किया जाता था जैसा कि मयमतम् ग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है–

---

1. The Evidence Of White-Wash, Plaster and Pigment on North Indian Sclpture With Special Reference to Sarnath — Krishna Kumar, page 199, Artibus Asiae Publishers, 1984
2. अमन्त्रमक्षरं नास्ति नानौषधिवनस्पतिः।
   अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।।
   (समयोचित पद्यमालिका, श्लोक–683)
3. कुतुबमीनार–वराहमिहिर की प्रयोगशाला, भोजराज द्विवेदी, डायमण्ड पाकेट बुक्स, पृष्ठ संख्या–22
4. सुयुक्तया, विष्णुधर्मोत्तर, 3/91, श्लोक–12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मल्ललीलं तथा ब्रह्मराजं वै वेणुपर्वकम्।
पूकपर्वं देवसन्धिर्दण्डिका षड्विधाः स्मृताः।।[5]

मुख्य सन्धियाँ छः प्रकार की होती हैं– मल्ललील, ब्रह्मराज, वेणुपर्वक, पूकपर्व, देवसन्धि एवं दण्डिका। जो कि इस प्रकार से हैं–

(1) मल्ललील–

द्विद्रव्यमेकसन्धिः स्यान् मल्ललीलमिति स्मृतम्।।[6]

दो द्रव्यों को जोड़कर एक सन्धि होती है। इसे मल्ललील कहा गया।

(2) ब्रह्मराज–

त्रिद्रव्यैस्तु द्विसन्धिः स्याद् ब्रह्मराजमितीरितम्।

तीन पदार्थों को जोड़ने से दो सन्धियाँ बनती हैं। इसे ब्रह्मराज कहा गया।

(3) वेणुपर्व–

चतुर्भिः पञ्चभिर्द्रव्यैस्त्रिचतुः सन्धयः क्रमात्।।
वेणुपर्वमिति प्रोक्तं तैतलानां नृणां गृहे।[7]

चार एवं पाँच पदार्थों के योग से क्रमशः तीन एवं चार सन्धियाँ बनती हैं। उन्हे वेणुपर्व कहा गया।

(4) पूकपर्व–

षड्भिस्तु सप्तद्रव्यैः सन्धयः पञ्चषट् क्रमात्।
पूकपर्वेति तत् प्रोक्तं धन्यधान्यकरं स्मृतम्।।[8]

छः एवं सात पदार्थों के योग से पाँच एवं छः सन्धियाँ बनती हैं। उन सन्धियों को पूकपर्व कहा गया।

(5) देवससन्धि–

अष्टभिर्नवतिर्द्रव्यैः सन्धयः सप्त वाऽष्टधा।।[9]

---

5. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक-3
6. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक-10
7. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक-11
8. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक-12
9. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आठ एवं नौ पदार्थों के योग से सात एवं आठ सन्धियाँ निर्मित होती है। उसे देवसन्धि कहा गया।

(6) दण्डिका–

बहुत से पदार्थों से बहुत-सी सन्धियाँ निर्मित होती हैं। इसे दण्डिका कहा गया। इसी प्रकार से सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, स्वस्तिबन्ध, वर्धमान, मेषयुद्ध, त्रिखण्ड, सौभद्र, अर्धपाणिक एवं महावृत्त, षट्शिखा, झषदन्त, सूकरघ्राण, संकीर्णकील, वज्रसन्निभ इत्यादि प्रकार की संधियों का भी वर्णन मिलता है।[10]

इस प्रकार से अन्य ग्रन्थों में भी पदार्थों को जोड़ने की अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जाता था, एवं संस्कृत भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शब्दों का अथाह समूह संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। इन प्रत्येक सन्धियों के नाम, उस सन्धि की प्रक्रिया व प्रकृति को समझाने वाले हैं।

आचार्य लिखते हैं कि जिस स्थान पर जितने बल की एवं जिस प्रकार के योग (सन्धि, जोड़) की आवश्यकता हो वहाँ उसी प्रकार की सन्धि का प्रयोग बुद्धिमान (स्थपति) को करना चाहिये। इस प्रकार विधि से की गई सन्धि सम्पत्ति कारक होती है। इन विशेष प्रकार की विविध सन्धियों का प्रयोग करते हुए ही प्राचीन स्थपतियों ने इतने भव्य, उन्नत व स्थायी दुर्गों, मन्दिरों का निर्माण किया।

अज्ञानता व शीघ्रता के कारण वर्जित स्थान पर यदि सन्धि की जाय तो सभी वर्ण वाले गृहस्थों की सभी सम्पत्तियों का नाश होता है। पुराने पदार्थों की नये पदार्थों की नये पदार्थ से तथा नये पदार्थों की पुराने पदार्थों से सन्धि नहीं करनी चाहिये। नये की नये व पुराने की पुराने से सन्धि करनी चाहिये।

इन विभिन्न प्रकार की संधियो के लिये पदार्थों को जोड़ने में विशेष रसायनों का प्रयोग किया जाता था। विभिन्न प्रकार की वनस्पति, जन्तुओं के अंगों, धातुओं के मिश्रण द्वारा रसायन में आवश्यकता के अनुसार कठोरता प्राप्त की जाती थी। विविध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन मिलता है। जिनमें विष्णुधर्मोत्तरपुराण, शिल्परत्न, मयमतम्, बृहत्संहिता, मानसोल्लास (अभिलसितार्थचिन्तामणि), नारद शिल्पशास्त्र आदि प्रमुख हैं।

इस रसायन का नाम बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने 'वज्रलेप' बताया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में एवं वराहमिहिर ने चार प्रकार से वज्रलेप निर्माण का वर्णन किया। जिनमें दो पद्धतियाँ तो पूर्ण रूप से वनस्पति द्वारा प्राप्त पदार्थों से निर्माण की है, तृतीय पद्धति में जन्तुओं के अंगों का मिश्रण होता है और चतुर्थ प्रकार में धातुओं को गलाकर मिलाया जाता है–

---

10. मयमतम्, सन्धिकर्म, श्लोक–15–30

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आमं तिन्दुकमामं कपित्थकं पुष्पमपि च शाल्मल्याः।
बीजानि शल्लकीनां धन्वनवल्को वचा चेति।।

एतैः सलिलद्रोणः क्वाथयित्व्योऽष्टभागशेषश्च।
अवतार्योऽस्य च कल्को द्रव्यैरेतैः समनुयोज्यः।।

श्रीवासकरसगुग्गुलुभल्लातककुन्दुरुकसर्जरसैः।
अतसीबिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः।।[11]

अर्थात् तेन्दु के कच्चे फल, सेमल के फूल, शल्लकी (सालई) वृक्ष के बीज, धन्वन वृक्ष की छाल, वच इन सबको द्रोण तुल्य जल में देकर काढा बनावे। जब अष्टमांश रह जाये तब उसको उतार लेवे। बाद में उसमें श्रीवासक (सरल) वृक्ष का गोंद, बेल, गूगल, भिलावा, कुरुन्दक (देवदारु वृक्ष का गोंद), सर्ज (संखुया) का गोंद, अलसी, बेल की गिरी इन सबको पीसकर डाले तो यह प्रथम वज्रलेप नामक काढा बन जायगा।

लाक्षाकुन्दुरुगुग्गुलुगृहधूमकपित्थबिल्वमध्यानि ।
नागफलनिम्बतिन्दुकमदनफलमधूकमञ्जिष्ठाः ।।

सर्जरससामलकानि चेति कल्कः कृतो द्वितीयोऽयम्।
वज्राख्यः प्रथमगुणैरयमपि तेष्वेवकार्येषु।।[12]

पूर्व सिद्ध किये हुए क्वाथ में लाख, कुन्दरुक (देवदारु वृक्ष का गोंद), गूगल, घर के धुंए का जाला, कैथ का फल, बेर की गिरी, नागबला का फल, महुए का फल, मजीठ, राल, बोल, आंवला, इन सबको पीसकर डालें तो प्रथम वज्रलेप के गुणों से युत पूर्वोक्त कामों के लिये ही दूसरा वज्रलेप तैयार हो जायेगा।

गोमहिषाजविषाणैः खररोम्णा महिषचर्मगव्यैश्च।
निम्बकपित्थरसैः सह वज्रतलो नाम कल्कोऽन्यः।।[13]

पूर्व सिद्ध किये हुए काढे में गौ, भैंस, बकरा इनका सींग, गदहे का बाल, भैंस का चमड़ा, गव्य (गोबर), नीम का फल, कैथ का फल, इन सबको मिलावे। इस लेप को वज्रतल कहा गया। इस प्रकार से जन्तुओं से प्राप्त होने वाले तत्त्वों का भी प्रयोग किया जाता था।

अष्टौ सीसकभागाः कांस्यस्य द्वौ तु रीतिकाभागः।
मयकथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसंघातः।।[14]

---

11. बृहत्संहिता-वज्रलेप लक्षणाध्याय, श्लोक-1-3
12. बृहत्संहिता-वज्रलेप लक्षणाध्याय, श्लोक-5,6
13. बृहत्संहिता-वज्रलेप लक्षणाध्याय, श्लोक-7
14. बृहत्संहिता-वज्रलेप लक्षणाध्याय, श्लोक-8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आठ भाग सीसा, दो भाग कांसा, एक भाग पीतल इन सबको एक जगह गलाने से मय कथित चौथा वज्रलेप तैयार होता है।

धातुओं से बने इस लेप को वज्रसङ्घात नाम दिया। वस्तुतः यह सबसे अधिक कठोर लेप होता था। यह विभिन्न पदार्थों को आपस में वज्र की तरह जोड़ देता था, इसी कारण इसका नाम 'वज्रलेप' था।

यह लेप प्राचीनकाल में इतना प्रसिद्ध था कि कालान्तर में जो वस्तु चिरस्थायी रहने वाली होती उसका पर्याय हि वज्रलेप हो गया था। जैसा कि नीति के प्रसिद्ध वचन में दृष्टिगोचर होता है–

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।[15]

इसी प्रकार से **'मयमतम्'** ग्रन्थ में वज्रलेप निर्माण में चूने की बड़ी मात्रा मिलाने का भी निर्देश दिया–

मधुघृतदधिदुग्धं माषयूषं च चर्म।
कदलिफलगुलञ्च त्रैफलं नारिकेलम्।।

क्रमवशमनुभागैर्वर्धितं लब्धचूर्णं।
शतमथ कृतमस्य द्वैगुणं शर्करास्तु।।[16]

लेप के लिए शहद, घृत, दही, दूध, उड़द का पानी, चमड़ा, केला, गुड़, त्रिफला एवं नारियल। इन्हें क्रमशः एक-एक भाग बढ़ाते हुए लेना चाहिये। इनमें एक सौ भाग चूना मिलाना चाहिये व इससे दुगुनी मात्रा में बालू मिलाना चाहिये।

इस प्रकार के लेप का प्रयोग ईस्वी पूर्व काल में हो चुका था। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (1913-14) के अनुसार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में बेसनगर (विदिशा), मध्यप्रदेश में निर्मित विष्णु मन्दिर इस प्रकार के चूना सीमेन्ट लेप का सबसे पहला उदाहरण है।[17] खजुराहो के मन्दिरों में भी बलुआ पत्थरों पर 'लाख' का लेप किया हुआ है, एवं मर्मस्थलों पर चूने युक्त कांक्रीट का प्रयोग मिलता है, यह भी निश्चित तौर पर वज्रलेप का प्राचीन प्रमाण है।[18] पंजाब में कफीरकोट के प्राचीन पत्थर के मन्दिरों पर भी इस प्रकार चूना एवं स्फटिक मिश्रित

---

15. समयोचित पद्यमालिका, श्लोक-719
16. मयमतम्, प्रस्तरप्रकरणम्, श्लोक-49
17. P.Brown. Indian Architecture, Part-1, p.16
18. B.L.Dhama, 'A Guide to Khajuraho', p.4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सीमेन्ट का प्रयोग मिलता है।[19] न केवल वास्तुग्रन्थों में अपितु सिद्धान्त ग्रन्थों में भी वज्रलेप के प्रयोग का वर्णन मिलता है। "सूर्यसिद्धान्त" में वज्रलेप से बने समतल चबूतरे पर 12 अङ्गुल शंकु को स्थापित कर दिक्साधन का वर्णन किया गया है–

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे।
तत्र शङ्क्वङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत्।।[20]

लेप के विषय में 'सुधा' शब्द से शिल्परत्न (पूर्व..14 अ) में अत्यन्त विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। सुधा की पाँच प्रकृतियाँ बताई गयी हैं–

करालमुद्गीगुल्मासकल्कचिक्कणकाश्च याः।[21]

शिल्परत्न वर्णित से सुधालेप विशेष रूप से चूना प्लास्टर से निर्मित है, उनमें विशेष रूप से शङ्खखोल का बुरादा मिला होता है, और कार्य की प्रकृति के अनुसार निम्न प्रकार के पदार्थों को मिलाने का निर्देश दिया गया है– अनेक प्रकार के दूधिया वृक्षों का रस, अश्वत्थ, पलाश, कदम्ब, आंवला, आम्ररस, दही, दूध, नारियल पानी, घी, पका हुआ केला, दालें, चावल का दलिया। इन सभी के बाद अन्त में वज्रलेप का वर्णन दिया है जिसमें कि 100 भाग चूना, राल एवं विभिन्न प्रकार के चिपकने वाले पदार्थ मिलाने का निर्देश किया है।[22] पुरातत्ववेत्ता कुमारास्वामी के अनुसार शिल्परत्न ने कठोर वज्रलेप को, सुधालेप से अलग माना है।[23]

शिल्परत्न में शंख के खोल व बजरी के महीन चूर्ण में अन्य सामग्री मिलाकर बहुत चमकदार, चिकने सफेद प्लास्टर के निर्माण की विधि वर्णित है। यह पालिश किये हुए हाथीदाँत के समान चमकदार लेप होता था। भारतीय पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट 1909–10 के अनुसार सिरपुर, आन्ध्रप्रदेश का सातवीं शताब्दी में निर्मित मन्दिर पूर्ण रूप से इस प्रकार के सफेद मोटे चमकदार प्लास्टर से आच्छादित था।[24] इस प्रकार के लेप का प्रमाण देक्कन के बौद्ध गुफा मन्दिर, कोकाम्थन मन्दिर (अहमदनगर, महाराष्ट्र)[25], कैलाशनाथ मन्दिर (कांजीवरम), मन्दसौर[26], देवगढ (पहाडपुर, बंगाल)[27] आदि प्राचीन मन्दिरों में प्राप्त होता है।

---

19. Chunnigham, ASI, Vol.16, p.26
20. सूर्यसिद्धान्त त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक–1
21. शिल्परत्नम्, 96/श्लोक–58
22. शिल्परत्नम्, 96/श्लोक–59–75
23. Coomaraswamy, 'Indian Architectural Terms' JAOS, vol.48, p.263 John Rosenfield, "On the Dated Carving of Saranath" Artibus
24. Archaeological Survey of India Annual Report, 1909-10, page-11)
25. Cousens, 'Mediaval Temples of The Dekhan' p.50
26. 'Indian Antiquary', Vol.15, p.196
27. Paharpur, Bengal: Archaeological Survey of India Annual Report, 1926, Pl.27

CC-0. Indira Gandhi National Centre for the Arts. In Public Domain. Research Academy

इस प्रकार से ईंटों, पत्थरों, प्रतिमाओं को जोड़ने के लिये विभिन्न रीति से कठोर वज्रलेपों का निर्माण तो होता ही था परन्तु दीवारों पर भी प्लास्टर के रूप में और चित्रकारी हेतु भित्ति पर कैनवास बनाने के लिये भी विशेष प्रकार के वज्रलेपों का निर्माण होता था, जिसका कि 'मानसोल्लास' (अभिलासितार्थ चिन्तामणि) ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।[28]

प्राचीन शिल्प ग्रन्थ 'नारद शिल्पशास्त्र' जिसका कि अनुवाद वी.राघवन ने किया, के दो अध्याय चित्रकला को समर्पित है, इनमें वर्णन है कि भित्ति पर चूना प्लास्टर (सुधा) की परत पर तीन परते सफेद लेप की, और अन्त में शंख के चूर्ण से निर्मित चमकदार लेप का लेपन किया जाय। फिर जब यह सूख जाय तब उस पर भित्तिचित्र बनाना चाहिये।[29] टी.गणपति शास्त्री द्वारा अनुवादित केरल के विद्वान ईशानशिवगुरुदेव द्वारा लिखित तन्त्रशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ "ईशानशिवगुरुदेवपद्धति" में इस प्रकार के लेप को चित्रकारी हेतु निर्मित करने का वर्णन प्राप्त होता है।[30]

मानसोल्लास में वज्रलेप का और भी विशेष उपयोग वर्णित है कि इसे विभिन्न रंगों के साथ मिलाया जाता था। भैंस के चमड़े को उबालने से प्राप्त गोंद को छोटी लकड़ियों पर लेकर सूखाया जाता था फिर मिट्टी के बर्तन में पानी के साथ मिलाकर पिघलाया जाता है, इसके उपरान्त इच्छित रंग में मिलाकर भित्तिचित्र बनाया जाता है। कुछ इसी तरह का वर्णन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी खाल से काढा बनाने के रूप में भी वर्णित है।[31]

संस्कृत शब्द "चित्र" सामान्य रूप से चित्रकला से संबंधित है, परन्तु कुछ विद्वानों ने शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों के आधार पर मूर्तिकला को भी इसमें समाहित करते हैं।[32] प्राचीन काल में मूर्तिकला व चित्रकला दो अलग विधायें थीं, मूर्ति बनाने वाले को "रूपकार" और चित्र बनाने वाला "चित्रकार" कहा जाता था, लेकिल "शिल्पी" अथवा "शिल्पकार" शब्द दोनों के लिये ही प्रयुक्त होता था।[33] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय और वज्र के संवाद के रूप में सभी कलाओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इस संवाद में मार्कण्डेय चित्र और मूर्ति के आपसी संबंध को बताते हैं कि "जो व्यक्ति चित्रसूत्रों को नहीं जानता वह कभी भी प्रतिमालक्षण को नहीं जान सकता।" विष्णुधर्मोत्तर पुराण का 38वां अध्याय "प्रतिमालक्षणम्" चित्रकला को ही समर्पित है।[34]

---

28. The hindu Temple, Volume O, By Stella Kramrisch, Raymond Burnier, page-132
29. नारदशिल्पशास्त्र, वी.राघवन, JISOA, Vol.3, p.3
30. वज्रब्रन्धः ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, Vol.4, Ch.32, p.66-99
31. विष्णुधर्मोत्तर, 3/40
32. John Rosenfield, "On the Dated Carvings of Sarnath,", Asiae, vol.26, no.1(1963), page 13 n 17.
33. C. Sivaramamurti, Indian Sculpture (New Delhi, 1961), p.1
34. Priya Bala Shah ed., Vishnudharmottara purana, Third Kanda, vol.2 (Baroda 1261), p.2-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अजन्ता की गुफाओं में आज भी बोधिसत्व के भित्तिचित्रों को आज भी प्राचीन वज्रलेप ने संरक्षित रखा है, इस प्रकार से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न प्रकार के लेप प्रमाणिक रूप से प्राचीन मन्दिरों में भी प्राप्त होते हैं। भारत के प्रत्येक कोने में प्राचीन संरचनाऐं निर्मित हैं, जो कि हमें हमारे गौरवशाली अतीत की याद दिलाती हैं। इस प्रकार भारत के सभी कोनों में इस प्रकार के वज्रलेपों ने हमारी प्राचीन धरोहरों को सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षित रखा। एक तरह से यह वज्रलेप संपूर्ण अखण्ड भारत को वज्र के समान जोड़े हुए था जो कि कालान्तर में लुप्त हो गया। अभी तक कुछ प्रमुख स्थलों के ही लेपों का अध्ययन किया गया है और भी प्राचीन दुर्ग, भवन, मन्दिरों में प्राप्त होने वाले वज्रलेप के प्रकारों का अध्ययन होना आज भी अवशिष्ट हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy